

अणुव्रत-दर्शन

[मुनिश्री नयमलजी]



अखिल भारतीय अणुव्रत समिति प्रकाशन

प्रकाशक :

ज्य० मा० जगन्नाथ समिति

१५११ चन्द्रावट रोड सखी मण्डी

दिल्ली

द्वितीय परिवर्धित संस्करण २०००

१६ सितम्बर, ६८

मूल्य १) रुपया

मुद्रक :

मोहनछात्र मुराना

रेफिन्ड आर्ट प्रेस

(नारसी पाहित्य संघ द्वारा संचालित)

२१, यदुवन्धा स्ट्रीट, कलकत्ता ७।

प्रकाशकीय

जीवन विचार-पुँज की मूमिका पर अधिष्ठित प्रासाद है। उसके प्रत्येक कर्म के पीछे एक पुँजला या ठसठा विचार रहता है। विचार सूक्ष्म भाव को छोड़ जब सूक्ष्मता में पैठता है, वहाँ अनेक सुहृणीय तथ्यों के रूप में वह निष्कर्ष आता है, जो जीवन को एक नया आलोक देता है। सूक्ष्म भाव में पैठने की यह प्रक्रिया दर्शन कहलाती है। अणुत्रत आचार-मार्ग है। असत् का निरोध कर सत् में सहजतया सम्प्रवृत्त होने की मूक पर अनेकमय पुकार बसकी है। इस संयमानुसूक्त आचार-पथ के पीछे एक गम्भीर दर्शन है, सूक्ष्म चिन्तन की उर्ध्व परम्परा है। सत् में भ्रमसु देखने वाले हर व्यक्ति के लिए जिसका अनुरीछन अपेक्षित है। क्योंकि सुगठित विचार-बल का महारा या आचार नब स्फूर्ति ब वेतना पाता है। परिपुष्ट मद् आवरण से विचार की शाभा ता है ही।

प्रस्तुत पुस्तक में आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यमी सुखसी के अन्तर्वासी मुनिमी मधमलजी ने अणुत्रत के पीछे रहे दर्शन को अपने सूक्ष्म अनुरीछन, चिन्तन, मनन एवं निश्चिन्ता के

सहारे एक स्पष्ट, परिमार्जित तथा बोधप्रबुध अभिव्यक्ति दी है।
 उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—इन प्रवृत्तियों
 का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली से विश्लेषण करते हुए
 वर्तमान के विविध बाहों के साथ युक्तिपूर्ण तुलना की है।
 निषेध-प्रधान ऋतु-परम्परा पर बड़े सुझावों के साथ विचार देते हुए
 उन्होंने उसकी विरन्तन उपयोगिता को बताया है।

मुनिजी की भाषा में ओझ है, विचारों में गंभीरता है,
 दार्शनिक मतिष्क होने के नाते शैली में प्रौढ़ता है ही, पर वह
 दुर्बलता से मूल नहीं है, उसमें प्रभाव-सहज बोध्यता है। उनकी
 यह कृति अणुप्रसन्न-आन्दोलन के पीछे रहे विचार-बौद्धिक की एक
 जम्बूक कृति है। 'आन्दोलन के सम्बन्ध में निम्नलिखित साहित्य
 में इसका अपना असाधारण स्थान है। आन्दोलन के दार्शनिक
 पहलुओं को जिसे दार्शनिक के माध्यम से समझा गया है,
 निःसन्देह यह सुस्पष्ट है।

अखिल भारतीय अनुभव समिति की ओर से इस अनुपम
 कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है,
 पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

दिनांक

—ब्रह्मचर्यदाता इन्दारी

११ दिसम्बर, १९५०

११

अ० भा० अनुभव समिति

समर्पण

दिनसे
इस छोट ने बया रूप बिना,
छन्दी
आचार्य श्री तुलसी
को
-मुनि नममल

नया-रूप

यह अणुप्रत-वर्णन का परिवर्धित रूप है। कार्य-वस्तुछटा के समय में अणुप्रत-वर्णन को बढ़ाना सहज नहीं लगता था किन्तु मुनि सुमेरमन्त्री के आग्रह ने ऐसा करपा लिया। कुछ निबन्ध जोड़, कुछ विषय नये लिखे और टिप्पण्य बनने तैयार कर दिये। अणुप्रत-वर्णन का आकार बढ़ गया।

प्रकार को बढ़ा करने के लिये प्रितना चिन्तन अपेक्षित है, छटना बढ़ आकार के लिये नहीं। पर आकार के साथ कुछ प्रकार भी बढ़ता ही है।

अणुप्रत और इनके धान्दोसन की भावना को समझने में इसका प्रसार दृष्टि दे सकेगा—ऐसा विश्वास है।

—मुनि मधमठ ।

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

अणुव्रत की पृष्ठ-भूमि में

विषय	पृष्ठ
१ व्रत क्या है ?	३
२ अणु क्यों ?	
३ 'व्रत' शब्द की प्रेरकता	५
४ अणुव्रत शब्द का मूल	६
५ अणुव्रत का व्यापक प्रयोग	७
६ अणुव्रतों का आन्दोलन	८
७ आन्दोलन का सक्षय	११
८ अणुव्रती कौन हो सकता है ?	१३
९ क्रमिक विकास की परिदृश्यता	१५
१० व्रतों का विस्तार क्षेत्र	१८
११ व्रत-साधना का प्रासंगिक फल	२२
१२ आन्दोलन के प्रवर्तक	२६

दूसरा अध्याय आन्दोलन के पार्श्व में

	३१
१ नैतिक विकास क्यों ?	३२
२ नैतिकता क्या है ?	३६
३ क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?	३६
४ नैतिक विकास किस भूमिका पर हो ?	३६
५ अनैतिकता के मूल को उखाड़ फेंको	४०
६ नैतिकता की उड़ को मजबूत किया जाय	४०
७ आन्दोलन की आधार भूमि अहिंसा	४४
८ क्या अहिंसा सफल हो सकती है ?	४६
९ अनन्त आनन्द का सतत-प्रवाही स्रोत	५०
१० संख्या और व्यक्तित्व	५१
११ सपटन या विषटन	५०
१२ मद्दा और मुकाव का विरोध मिटाने के द्वि- संयम का षोप	५३
१३ नकारात्मक दृष्टिकोण	६४
१४ क्या अणुश्रम रचनात्मक है ?	७२
१५ प्रविरोधात्मक शक्ति की साधना	

तीसरा अध्याय

लक्ष्य की ओर

१ जीवन का ध्येय	५६
२ सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्त	८१
३ संपन्न के बीज अपनी सुख-साधना की धरती में पाए जाते हैं	८७
४ मत्ता की आधार शिला	८४
५ जीवन-परिवर्तन की विशा	८६
६ विपन्न स्थिति कैसे मिटे ?	९०
७ नया माड़ लेना होगा	९३
८ आकर्षण कैसे पुटे ?	९४
९ मूल्यांकन की दृष्टि	९६
१० भूल सुधार	९६
११ मूल्य परिवर्तन की दृष्टि	९८
१२ व्यवस्था-सुधार से पहले वृत्ति का सुधार हो	१००

चौथा अध्याय

निर्माण की दिशा में धर्मों का महत्त्व

१ परिस्थितिवाद पर दृष्टियाँ	११५
२ अपरिमह की धार	११७
३ परिमह का अस्वीकरण	११६

: १ :

अत क्या है ?

और अपार पदार्थ। मन पर कोई
दौड़ता है, इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। यह
गेगी, हिंसक और क्रूर बना देती है।
हो मनुष्य ने साध्य के पारे में सोचा।
या कि जीवन का साध्य शान्ति है।
छिप उसने क्रूरता को छोड़ना चाहा।
अप हिंसा, हिंसा को छोड़ने के छिप
तन्त्रता को छोड़ने का अभ्यास किया।
हो सहज पवित्रता और उसे अपवित्र
पलठा के बीच छोहाकरण बन गया,
ने उसे प्रत कहा'।

तु से बनता है। इसका अर्थ संरक्षण करना है।

दूसरा अध्याय

आन्दोलन के पार्श्व में

१ नैतिक विकास क्यों ?	३१
२ नैतिकता क्या है ?	३२
३ क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?	३५
४ नैतिक विकास किस भूमिका पर हो ?	३६
५ अनैतिकता के मूल को उखाड़ फेंको	३६
६ नैतिकता की अड़ को मजबूत किया जाय	४०
७ आन्दोलन की आधार भूमि अहिंसा	४२
८ क्या अहिंसा सफल हो सकती है ?	४४
९ अनन्त आनन्द का सतत-प्रवाही स्रोत	४६
१० संख्या और व्यक्तित्व	५०
११ सघटन या विघटन	५१
१२ अज्ञान और मुकाब का विरोध मिटाने के लिए समय का पाप	५२
१३ मकारात्मक दृष्टिकोण	५३
१४ क्या अणुमय रचनात्मक है ?	६४
१५ प्रतिरोधात्मक शक्ति की साधना	७२

तीसरा अध्याय

लक्ष्य की ओर

१	जीवन का ध्येय	५६
२	सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्त	८१
३	संघर्ष के बीच अपनी सुख-माधना की सर्वरा में षोए जाते हैं	८०
४	सत्ता की आधार-शिला	८४
५	जीवन परिवर्तन की दिशा	८६
६	विपम स्थिति कैसे भिटे ?	९०
७	नवा माइ लेना होगा	९३
८	आकषण कैसे छुटे ?	९४
९	मूल्यांकन की दृष्टि	९६
१०	भूख सुधार	९६
११	मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि	९८
१२	व्ययन्धा-सुधार से पहले वृत्ति का सुधार हो	१००

चौथा अध्याय

निमाण की दिशा में प्रश्नों का महत्त्व

१	परिमितियाँ पर दो दृष्टियाँ	११५
२	अपरिमित की ओर	११७
३	परिमित का अस्वीकरण	११९

	०
४ व्यक्ति-निर्माण की विधा	१२६
५ व्यक्तिवाद और समष्टिवाद	१३०
६ अणुव्रती समाज-व्यवस्था	१३२
७ अणुव्रती समाज-व्यवस्था की तीन मूमिकारण	१३६
८ नया मूल्यांकन—नया आकर्षण	१३७
९ अहिंसक समाज की रूपना	१३६
१० अन्तर के आलोक में हमारी जीवन विधा	

पाँचवाँ अध्याय कदम आगे बढ़ें

१ आध्यात्मिक समतावाद	१४६
२ आत्म-गुला का विस्तार-क्षेत्र	१५१
३ धारणा बढ़े बिना समाज नहीं बढ़ेगा	१५४
४ आर्थिक बोझ से अनेतिक्रता की ओर	१५६
५ अर्मन फट्टि का बिचार	१६०
६ श्रम और नैतिकता	१६३
७ आध्यात्मिकता और भौतिक वस्तु का उत्पादन	१६७
८ आन्वाखन और प्रसार	१७१

पहला अध्याय



अणुव्रत की पृष्ठ-भूमि में

व्रत क्या है ?

अनन्त आकाश है और अपार पदार्थ। मन पर कोई नियन्त्रण नहीं है। वह दौड़ता है, इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। यह लुब्धी दौड़ मनुष्य को भोगी, हिंसक और क्रूर बना देती है।

क्रूरता से अशान्त हो मनुष्य ने साध्य के बारे में सोचा। आखिर उसने जान लिया कि जीवन का साध्य शान्ति है।

शान्ति को पाने के लिए उसने क्रूरता को छोड़ना चाहा। क्रूरता को छोड़ने के लिए हिंसा, हिंसा को छोड़ने के लिए इन्द्रिय और मन की स्वतन्त्रता को छोड़ने का अभ्यास किया। वह अभ्यास आत्मा की सहज पवित्रता और उसे अपवित्र बनाने वाले मन की बंधकता के बीच सौहावरण बन गया, इसलिए हमारे आचार्यों ने उसे व्रत कहा^१।

१-मन शब्द 'छु संवरणे' वादु से बनता है। इसका अर्थ संवरण करना है।

२ :

अणु क्यों ?

स्वरूप की दृष्टि से प्रथम एक है। प्रथम का काम है आत्मा और उसे अपवित्र बनाने वाली दुनियाँ के बीच में दीवार खड़ी करना। पर दीवार कमजोर भी हो सकती है और मजबूत भी। अभ्यास के प्रारम्भ में वह उतनी मजबूत नहीं बनती, जितनी कि अभ्यास करते-मुर्गे बाद बनती है। दूसरी बात—प्रत्येक आत्मा मोहाणुओं के आकर्षण से लिखी रहती है। वह उन्हें विस्तार की ओर खींचता रहता है। उस आकर्षण के लिखाब से बचने के लिए जो अधिक सफल होता है, वह विकार से अधिक दूर जा सकता है और जो कम सफल होता है उसकी विकार से दूरी भी कम होती है। इस वस्तु स्थिति के आधार पर ही प्रथम के प्रारम्भिक या अल्प-अभ्यास को अणु कहा गया। आत्मा और अपवित्रता के बीच छोटाबरण सपन नहीं बना, दीवार मजबूत नहीं बनी, इसलिये उसका नाम अणुप्रथम हो गया।

व्रत शब्द की प्रेरकता

भारतीय मानस में व्रतों के संस्कार बहुत पुराने हैं। ये हृदय की स्वतन्त्र मापना से छिप जाते हैं। कानून को तोड़ने में सकोच नहीं होता। व्रतों को तोड़ने में बहुत बड़ा पाप माना जाता है। व्रत न ले, यह पाप है पर लेकर उसे तोड़ डाले, यह महापाप है—यह यहाँ की सामान्य धारणा है। लोग कहते हैं—इतने महर्षि हुए, 'व्रतों' का जी-भर उपदेश दिया पर क्या बना क्या ? अनेकता बढ़ी है, कम नहीं हुई।

सोचने का अपना दृष्टिकोण है। हमें तो लगता है कि व्रतों से जो हो सकता है, यह हुआ है। जो व्रतों से नहीं हो सकता उसकी भारा हम उनसे क्यों करें ?

लोग व्रतों से समाज की व्यवस्था चाहते हैं। हमारा विरवाम यह है कि व्रत समाज को व्यवस्था नहीं दे सकते। व्रत हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता और पवित्रता के प्रतीक हैं। व्यवस्था में दबाव होता है। व्रत आत्मा का धर्म है और व्यवस्था है—सामूहिक जीवन की उपयोगिता। व्रत अपरिवर्तित रहा है और व्यवस्था देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रही है। जो लोग व्यवस्था की दृष्टि से व्रतों का मूल्य आंकते हैं, उनकी धारणा में व्रत असफल रहे हैं। व्रतों के आचरण से समाज की भोग-सृष्टि पर बहुत बंधुता रहा है। हिंसा को मुठकर खोलने का अबसर नहीं मिला—इस दृष्टि से देखें तो व्रत समाज की आत्मा के प्रेरक रहे हैं।

: ४

अणुव्रत शब्द का मूल

व्रत शब्द का प्रयोग वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं में मिलता है। अणुव्रत का प्रयोग पहले पहले जैन आगमों में हुआ है। जिन्होंने अपवाद और आपद् धर्म की छूट से रहित अहिंसा का आचरण करना चाहा, उनके अहिंसा धर्म को महाव्रत कहा गया। बिना प्रयोजन नहीं मारूँगा, निरपराध को नहीं मारूँगा, संकल्पपूर्वक नहीं मारूँगा—इस प्रकार अपवाद और आपद् धर्मपूर्वक जिन्होंने अहिंसा का आचरण किया, उनका अहिंसा-धर्म अणुव्रत कहा गया। अणुव्रतों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। उसका आधार भी यही आचरण की शक्ति का उत्तम भाव है। हमारे शास्त्रों में यों कह सकते हैं कि मुनि या संन्यासी का धर्म महा

अणुव्रत का व्यापक प्रयोग

जैन-परम्परा में 'भावक' के व्रतों को ही अणुव्रत कहा जाता है। यह शब्द जैनागमों से लिया गया है पर इसका प्रयोग 'छोटे-छोटे व्रत' इस सामान्य अर्थ में किया गया है। मौखिक व्रत पाँच हैं। इनकी साधना भी पूर्ण नहीं है, इसीलिए वे अणुव्रत हैं। उनके अन्तगम जो छोटे-छोटे व्रत हैं वे अवश्य ही अणु हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के अनुसार वे आवश्यक भी नहीं हैं। उन्होंने एक पत्र में लिखा था—“बहुत से उद्योक्त व्रत ऐसे हैं, जो मेरी समझ में अनावश्यक हैं। इतना ध्यौरे में जाने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और उसकी स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति पर गहरा अक्षुभ्य छग जाता है। पी में बेबीटेबल न मिलाता, घोट के लिए रुपया न लेना न देना, होली पर महा व्यवहार न करना, बड़ी धारांत न ले जाना, बहुत से व्यक्तियों को निमन्त्रित न करना आदि ध्यौरे की ऐसी

१—धर्मों की उपासना और व्रतों का आचरण करनेवाला पुरुष भावक कहा जाता है।

बातें हैं, जिनको प्रथम की कोटि में ले जाना प्रथम शब्द की मर्यादा की स्फुटि कराना सा प्रतीत होता है। रेखा भी बलवत् स्थाय्य है, इसे बहुत से प्रमाण काटि तक पहुँचे हुए साधु महात्मा भी मानने को तैयार न होंगे। अधुन्य को संयमी बनने के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय, वह स्तुत्य है। आजकल का सिद्धि भारतीय धर्म से बहुत दूर जा पड़ा है। इसको धर्म निष्ठ और प्रती बनाने का प्रयास अनुमोदनीय है, परन्तु सचि त यही प्रतीत होता है कि कुछ मौलिक बातों पर शास्त्र और तर्क के द्वारा निष्ठा उत्पन्न कर के धर्म की बातों को हमकी बुद्धि पर छोड़ दिया जाय। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म के छन्दों में जहाँ बुद्धि, सृष्टि और सदाचार को गिनाया है, वहीं उनके साथ यह कहा है कि जो "स्वस्य च प्रियामात्मनः" है वह भी धर्म है। शास्त्र, सत्संग और सद्बिचार के द्वारा बुद्धि को मृदु करना चाहिये।" यह नारायण का मन्त्र है। इन बहुत छोटी छोटी बातों का प्रथम की सीमा में खाना भी नहीं चाहिये। जो अहिंसा का प्रथम लेता है उसे इन दोषों से स्वर्ण बनना चाहिये। परन्तु अन-मानस कुछ दूसरा हो गया। बहुत सारे लोग अब बंध को ही हिंसा मानते हैं। इन अमैतिक आचरणों का जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मान लिया है। ये बहुत छोटी सग्ले वाली बातें कभी बहुत पृथिवी भी पर आज के बहुत ही सख्त हो गई हैं इसलिए उन्हें प्रथम की कोटि में रखना उचित ही है और अधुन्य शब्द इस भावना का सही प्रतिनिधि बन गया है।

अणुप्रतों का आन्दोलन

अणुप्रत जीवन की स्थिति है और आन्दोलन है गति की सीधता। यावत् रचना की दृष्टि से दोनों शब्दों का योग विरोधी मा लगता है।

श्री नेमिशरण मिश्र का श्री प्रतापसिंह बैद के नाम पत्र आया। उसमें उन्होंने लिखा—‘अणुप्रत-अनुरीछन कोई आन्दोलन नहीं है, उसमें स्थिति की गति और गति की स्थिति है, दोछन नहीं है। कुछ है तो आरोहण है, अतः आपने अपनी योवना को खो नाम दिया है, वह गलत दिम्पता है १ प्रश्न स्वाभाविक है। अणुप्रती के लिए अणुप्रत अनुरीछन की घस्तु है दोछन की नहीं। किन्तु अणुप्रत-अनुरीछन के प्रति मानव समाज में प्रेरणा आगृत हो, इसलिए आन्दोलन आवश्यक है। इसकी भावना हमें इन शब्दों में प्राप्त है कि अणुप्रतों की व्यापकता के लिए आन्दोलन है। इसी भावना का संक्षेप ‘अणुप्रत आन्दोलन है। तात्पर्य की भाषा यही है—जोगों को प्रत प्रहण की प्रेरणा मिले, प्रतों के प्रति आकर्षण बढ़े, लोग प्रती घने।

अतों का स्वरूप आरोग्यसात्मक है। पर आरोग्य क्रमिक होता है। डॉ.बाई में कृत्रिम-भेद नहीं होता, सोपान में बह होता है। अणुप्रतियों का भेदी-भेद सोपान-भेद की भाँति रूपयोगिता मात्र है। इसका प्रयोजन अतों को तोड़ना व प्रतियों को पूषक-पूषक भेदी में विभक्त करना नहीं है। हम कोरे आदर्श वादी ही न हों, हमें बस्तु स्थिति का स्पर्श किये बचना चाहिये। मनुष्यों के मोह के तारतम्य और तज्जनिष्ठ सामर्थ्य का विचार कर ही आरोग्य की कल्पना देनी चाहिये। ; क्रमिक अभ्यास की दृष्टि से यह भेदी-भेद बस्तु स्थिति पर आधारित है, ऐसा हमें लगता है।

आन्दोलन का लक्ष्य

जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी उन्नति का मापदण्ड बदले—इस उद्देश्य से अणुप्रत-आन्दोलन बला और यह लक्ष्य की ओर महत्त गति से बढ़ रहा है। चरित्र का न्यूनतम विकास सर्वमें हो, इत्य की भ्रष्टा से हो—यह 'अणुप्रत' का साम्य-स्वरूप है। आन्दोलन के प्रवर्तक की यह मान्यता है कि चारित्रिक उन्नति के बिना मानव समाज की सभ्यता और संस्कृति उभ नहीं बन सकती।

वैयक्तिक जीवन को पवित्र बनाए रखने की भावना के बिना चरित्र विकास नहीं हो सकता।

वैयक्तिक चरित्र की उत्पत्ता बिहीन सामुदायिकता जा बढ़ रही है, वह गभीरतम खतरा है।

समयहीन राष्ट्रीयता की भावना भी खतरा है।

रंग-भेद और जाति-भेद के आधार पर जा उत्पत्ता और नीचता की परिष्करण है, यह भी खतरा है।

अधिकार विस्तार की भावना त्यागे बिना निराश्रीकरण की चर्चा चल रही है यह भी खतरा है।

व्रतों का स्वरूप आरोहणात्मक है। पर आरोहण क्रमिक होता है। डॉ.बाई में कृत्रिम-भेद नहीं होता, सोपान में वह होता है। अणुव्रतियों का भेदी भेद सोपान-भेद की भाँति उपयोगिता मात्र है। इसका प्रयोजन व्रतों को तोड़ना व व्रतियों को पूर्यक-पूर्यक भेदी में विभक्त करना नहीं है। हम कोरे आदर्श-वादी ही न हों, हमें वस्तु-स्थिति का स्पष्ट किये चखना चाहिये। मनुष्यों के मोह के तारतम्य और तद्व्यतिथ सामर्थ्य का विचार कर ही आरोहण की कल्पना देनी चाहिये। क्रमिक अभ्यास की दृष्टि से यह भेदी-भेद वस्तु स्थिति पर आधारित है, ऐसा हमें लगता है। -

आन्दोलन का लक्ष्य

जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी श्रमता का मापदण्ड बंधे—इस उद्देश्य से अणुगत आन्दोलन बढ़ा और वह लक्ष्य की ओर सहज गति से बढ़ रहा है। चित्र का न्यूनतम विकास सबसे ही, हृदय की मूला से ही—यह 'अणुगत' का साम्य-स्वरूप है। आन्दोलन के प्रबल की यह मान्यता है कि चारित्रिक चरमता के बिना मानव समाज की सम्यता और ससृष्टि उच्च नहीं बन सकती।

वैयक्तिक जीवन को पवित्र बनाए रखने की भावना के बिना चरित्र विकास नहीं हो सकता।

वैयक्तिक चरित्र की चरमता विहीन सामुदायिकता जो बढ़ रही है, वह गंभीरतम स्तरा है।

समयहीन राष्ट्रीयता की भावना भी मरता है।

रग-भेद और जाति-भेद के आधार पर ही उच्चता और नीचता की परिदृश्यना है, यह भी मरता है।

अधिकार विस्तार की भावना स्वयं ही निन्दास्त्रीकरण की चरण पर चढ़ रही है यह भी मरता है।

विराज में जब कमी खतरे की घंटी बज पड़ती है, वह खतरा नहीं है। वह वास्तविक खतरे का ही परिणाम है। खतरा स्वयं क्षिप्त रहता है। मनुष्य परिणाम से चौंकते हैं, उसके कारण से नहीं।

मानवीय, आतीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पतन के दो कारण हैं—(१) भोग विस्वास का अतिरेक (२) अति समृद्ध। प्रत्येक मनुष्य सुख-सुविधा और अधिकार की छद्मता चाहता है। यही चाह उसे दूसरों के प्रति अन्याय और अधिकार-हरण की ओर ले जाती है।

अणुअन-आन्दोलन के द्वारा इसके प्रवर्तक ऐसा बातावरण बनाना चाहते हैं, जिससे प्रभावित होकर कोटि-कोटि जनता—

- १ : आध्यात्मिक भावना के उन्नयन के द्वारा अधिकार-विस्तार की वृत्ति को नियन्त्रित करे।
- २ : आक्रामक नीति का परित्याग कर निःशस्त्रीकरण करे।
- ३ मनुष्य शांति एक है—इस विश्वास की सुदृढ़ भूमिका पर रंग और जाति के भेद से होनेवाली असमानता को नष्ट करे।
- ४ : आज का दृष्टिकोण कोरा आर्थिक बनता सा रहा है, इसे बदलने का प्रयत्न करे।
- ५ प्रत्येक आवश्यक कार्य को आध्यात्मिकता से सन्तुष्टि रहे। अगर ऐसा नहीं हुआ तो हिंसा, आक्रमण और प्रतिक्रोध की गृहस्था बहुत बम्बी हा पड़ेगी।

अणुप्रती कौन हो सकता है ?

इस छोटी-सी दुनियाँ में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियाँ, अनेक वर्ग, अनेक सम्प्रदाय और अनेक विचार वाले लोग हैं।

भौगोलिक सीमा और विचारों के भेद ने लोगों को अनेक रूपों में बाँट रखा है। वास्तव में ये सारे भेद कृत्रिम हैं। बाहरी सीमाएँ मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं डाल सकतीं। इसलिये अणुप्रती बनने में जात-पाँत आदि के भेद बाधक नहीं बनते।

मनुष्य में जो विश्वास और आचरण का भेद है, वह अकृत्रिम है। अणुप्रती के लिए यह स्वामायिक सीमा मान्य है। आचरण का विकास करने के लिए अणुस्त आन्दोलन ही है। आचरण को पवित्र बनाना चाहे, वह व्यक्ति अणुप्रती हो सकता है। आचरण की पूर्ण भूमि विश्वास है। अहिंसा में जिसका विश्वास न हो वह नैतिकता या आचरणों के मूल्यों का स्वतन्त्र नहीं मानता। परिस्थिति पर निर्भर नैतिकता का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिये यह माना गया है कि अणुप्रती के आदर्शों को जो चाहे सो निमाप। पर अणुप्रती सभी को मानना चाहिये जिसका विश्वास अहिंसा में हो।

अणुमत ममी सम्प्रदायों के मौलिक नियम हैं। उनके द्वारा सर्व धर्म-समन्वय की माँग स्वयं पूरी होती है, आचरण और उपासना में जो भेद आ गया, वह इस आन्दोलन के द्वारा मिटवा है।

सत्य और अहिंसा का जयाज रक्षते हुए गृहस्थी नहीं पढायी जा सकती, यह मिथ्या धारणा इसके माध्यम से टूटती है।

इन सबका मूल अहिंसा है। इसमें आत्मा जमाने पर ही आचरण आगे बढ़ सकता है।

क्रमिक विकास की परिकल्पना

अणुव्रत-आन्दोलन की तीन श्रेणियाँ हैं : (१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रत इनका आधार साधना का क्रमिक अभ्यास है। व्यक्ति अपनी वृत्तियों का परिमाणन करे—यह व्रत-ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वृत्ति का शोषण नहीं होता, केवल रूप और मार्ग का निरोध होता है व्रत बह मिटती नहीं, रूपान्तरित व मार्गान्तरित हो जाती है। घुलाई नहीं मिटती, उसके रूप और प्रगट होने का मार्ग बदल जाता है। जैसा कि मैंने एक कविता में लिखा है

धुरी घुलाई होती उसके घुटा कि वह संस्कार।

जो कि घुलाई की देना है, नित्य यथा आकार ॥१०

पतम्ब होता। पूछ डटते, हड़ रहता है मूठ।

धिर से जाये ही रहते हैं, पत्र और फल फूल ॥११

अन्तर का शोषन नहीं होगा, अन्तर ही भाव ।
 पीप सुझाया मार्ग बनती, सबका यही स्वभाव धरती
 यहाँ बासबाएँ पिटवी हैं, होता कोरा त्याग ।
 पार्श्वान्तर से बाहर आता, अन्तर का अनुभव तब ही
 करी पारना; १ नहीं ज्यों की बीमा प्रवाहण २ ।
 कुछ बावेगा पित्त ज्येष्ठ से हंगि तब श्वार ३५५
 नहीं बने ही बने रहेंगे, अन्तर केवल धरि नार ।
 करो न बाँध विचोनी स्वसे के अमूल्य उपहार ३६०
 शान्ति शान्ति में नहीं मिलेगी हूँगे सब भाषार ।
 परम तब है शान्ति साधना, जो जीवन का वार ३६५

अनुभव की शान्ति शान्ति की भाषा में सीमित नहीं है । श्वेय
 है—जीवन की शान्ति । इसके साधन इतने ही नहीं हैं, आगे
 और बहुत हैं । सुराश्याँ अशान्ति छाती है । ये भी इतनी ही
 नहीं हैं, जिनका कि यहाँ निषेध हुआ है । यह तो साधना-
 बिन्दु पर दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयत्न है । इसके तीन बर्ग
 बस्तु स्थिति पर आधारित हैं । व्यक्ति की असीम योग्यता या
 कर्तृत्व शक्ति में हमें विश्वास है । इसका सुम मानस जागरण
 का संकेत मिलने पर जाग बठता है । जागरण का अर्थ किसी
 का सन्धा और किसी का छोटा हो सकता है । जागरण के
 बाद आत्म नियमन की बात आती है । वह भी किसी के

१-श्वेय के किसी अर्थ में पित्त को उपासना ।

२-दुश्चिन्तोंके पित्त—अम्ल, अम्ल, रक्त, स्वर्ण से मनको हटाना ।

लिये दीर्घ प्रयत्न साध्य होता है और किसी के लिये स्वल्प प्रयत्न साध्य। ये तीन श्रेणियाँ इसी क्रम-विकास के आधार पर निर्मित हुई हैं। यह स्वल्प से मध्यम और मध्यम से उत्कृष्ट की ओर गति है। विशिष्ट अणुवृत्ती का मार्ग आगे बढ़ता ही जाता है।

अपेक्षा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट अणुवृत्ती बने। वह न बन सके तो अणुवृत्ती बने, वह भी न बन सके तो कम-से-कम प्रवेशक अणुवृत्ती तो अवश्य बने। प्रवेशक को अणुवृत्ती बनने और अणुवृत्ती को विशिष्ट अणुवृत्ती बनने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा क्रमशः शक्तियों की विशेष पवित्रता की ओर बढ़ना चाहिये।

धर्मों का विस्तार-क्षेत्र

धर्म सारे के सार वैयक्तिक होते हैं। धर्म सामाजिक होता है। एक की कमाई का लाभ अनेकों को मिल जाता है। धर्म में बेसी यात नहीं है। एक ब्यक्तिही धर्म-साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता। प्रासंगिक लाभ ही मिलता है। एक ब्यक्ति अपनी मलाई के लिए कोई भी बुरा काम नहीं करता, यह समाज की मलाई में बिना कुछ किये अपना योग दे देता है। अनापराध संभल नहीं करनेवाला दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का सहज भाव से निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ ही बाँट हुई। हमारा तात्पर्य धर्म के मौलिक लाभ से है। उसका प्रतिदान नहीं होता। शान्ति उसी को मिलती है, जो धर्म के द्वारा अपनी वृत्तियों का शोधन करता है, दूसरों को नहीं मिलती। सगे-सम्बन्धियों को भी उसका श्राव-भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है, निमित्त मिल सकता है, पर शुद्धि का समर्पण नहीं होता—यही उनका वैयक्तिक स्वभाव है। यह धर्मों के शुद्ध रूप की मीमांसा हो गई। वहाँ मेरा

अभिप्राय दूसरा है। यहाँ उन्हीं प्रतों को 'वैयक्तिक' कहा देनी है, जो मुख्यतया व्यक्ति की निजी स्थिति को ही प्रभावित करनेवाली घुराई का नियन्त्रण करें। व्यक्ति के अलावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करनेवाली घुराई का नियन्त्रण करनेवाले प्रत 'सामूहिक' हो जाते हैं। वृत्ति शोषण की अपेक्षा दोनों प्रकार के प्रत एक रूप हैं। यह सद्भा-भेद केवल प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होने वाले सहस्र परिणाम की अपेक्षा से है।

आन्दोलन के ४५ प्रतों में से दस प्रतों का परिणाम मुख्य-वृत्त्या व्यक्ति पर ही होता है। इसलिये उन्हें वैयक्तिक कहा जा सकता है। २५ प्रत समाज की स्थिति को प्रभावित करते हैं, इसलिये उन्हें सामाजिक प्रत कहा जा सकता है।

१६ प्रत राष्ट्रीय हैं और ५ प्रत अन्तर्राष्ट्रीय। इस गणना-पट्टक में प्रतों की संख्या ५७ हो गई है। कई प्रत हमरू-मणि की स्थिति वाले या मन्थारी हैं। वे एक से अधिक क्षेत्र पर सीधा असर डालते हैं। इसलिये अनेक क्षेत्रों में उन्हें गिना गया है। प्रत-संख्या की वृद्धि का हेतु यही है।

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
११२	१११ ५१५	१११	१११
४११	११२ ५१६	११३	३१२
४१२	११५ ६११	२१७	३१३
४१३	११६ ६१२	२१८	३१४

धर्मों का विस्तार-क्षेत्र

धर्म सारे के सारे वैयक्तिक होते हैं। धर्म सामाजिक होता है। एक की कमाई का लाभ अनेकों को मिल जाता है। धर्म में बेसी बात नहीं है। एक व्यक्तिकी धर्म-साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता। प्रासंगिक लाभ ही मिलता है। एक व्यक्ति अपनी कमाई के लिए कोई भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की कमाई में बिना कुछ किये अपना योग दे देता है। अनापरपक समझ नहीं करनेवाला दूसरों की आपरपकता-पूर्ति का सहज मास से निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ ही प्राप्त हुई। हमारा तात्पर्य धर्म के मौखिक लाभ से है। इसका प्रतिदान नहीं होता। शान्ति उसी को मिलती है, जो धर्म के द्वारा अपनी वृत्तियों का शोषण करता है, दूसरों को नहीं मिलती। सगे-सम्बन्धियों को भी इसका वाच-भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है, निमित्त मिल सकता है, पर मुक्ति का समर्पण नहीं होता—यही धर्मका वैयक्तिक लक्ष्य है। यह धर्मों के शुद्ध रूप की सीमांसा हो गई। यहाँ मेरा

अभिप्राय दूसरा है। यहाँ उन्हीं प्रतों को 'वैयक्तिक' संज्ञा देनी है, जो मुख्यतया व्यक्ति की निजी स्थिति को ही प्रभावित करनेवाली घुराई का नियन्त्रण करें। व्यक्ति के अछावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करनेवाली घुराई का नियन्त्रण करनेवाले प्रत 'सामूहिक' हो जाते हैं। वृद्धि-शोषण की अपेक्षा दोनों प्रकार के प्रत एक रूप हैं। यह सन्ध्या-भेद केवल प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होने वाले सहज परिणाम की अपेक्षा से है।

आन्दोलन के ४५ प्रतों में से दस प्रतों का परिणाम मुख्य-वृत्त्या व्यक्ति पर ही होता है। इसलिये उन्हें वैयक्तिक कहा जा सकता है। २५ प्रत समाज की स्थिति को प्रभावित करते हैं, इसलिये उन्हें सामाजिक प्रत कहा जा सकता है।

१६ प्रत राष्ट्रीय हैं और ५ प्रत अन्तर्राष्ट्रीय। इस गणना-पट्टक में प्रतों की संख्या ५७ हो गई है। कई प्रत इतक-अपि की स्थिति वाले या सम्बन्धी हैं। वे एक से अधिक क्षेत्र पर सीधा असर डालते हैं। इसलिये अनेक क्षेत्रों में उन्हें गिना गया है। प्रत-संख्या की वृद्धि का हेतु यही है।

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
१२	११ ५५	११	११
४१	१२ ५६	१३	३०
४२	१५ ६१	२७	३३
४३	१६ ६२	२८	३६

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
११	२१ ६१५	३३	६५
६१	२० ६१८	३४	
६१०	२३ ६१६	३६	
६३	२४ ६१९०	६१	
६३	२५ ६१११	६२	
६३	२६ ६११२	६३	
६३	३१	६४	
६३	३२	६१	
६३	३४	६१०	
६३	३५	६५	
६३	४४	६१०	
६३	४५	६१८	
६३	५१		

प्रती का यह विभाजन स्पष्ट-विचार से किया गया है। इनकी सम्भरणशीलता बहुत सूक्ष्म है, इसलिये उसे किसी एक ही के साथ बाँटा नहीं जा सकता।

दूसरी बात—प्रती का यह विभाजन सक्षिप्त रूपि के अनुसार किया गया है। विशद रूपि के अनुसार प्रती का विभिन्न क्षेत्र व कार्य में बाँटा जा सकता है। जैसे—३ प्रत पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, ३ प्रत शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, २ प्रत पिछ्छिमा क्षेत्र से जुड़ हुए हैं, १० प्रती का सम्बन्ध

व्यवसाय व उद्योग से है । इसी प्रकार ४ व्रत विवाह से, २ व्रत न्यायालय से, ४ व्रत स्नान-पान से, २ व्रत परिधान से, १ व्रत परम्पराओं से, १ व्रत पर्व से, १ व्रत धर्म-सम्प्रदायों से, १ व्रत पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से, १ व्रत जातिवाद से, १ व्रत निर्वाचन से, ५ व्रत सामान्य व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं ।

१—पारिवारिक जीवन—१२, १३, २४ ।

२—शिक्षालय—२६—क, ग, घ ।

३—पिछिस्तालय—२६—क, ५४ ।

४—व्यवसाय-गृह—१६, २१, २४, २५, २७—क, ख, ३२, ३३, ३४, ६७ ।

५—विवाह-संस्था—४२, ४३, ५६, ५६ ।

६—न्यायालय—२२, २३ ।

७—स्नान-पान गृह—६१, ६२, ६३, ६४ ।

८—परिधान गृह—६५, ६६ ।

९—परम्परा-प्रवाह ६८

१०—पर्व—६९ ।

११—धर्म सम्प्रदाय—१५ ।

१२—प्रकाशन व सम्पादन गृह—२७

१३—जातिवाद—१४

१४—निर्वाचन-पेटी—५३ ।

१५—सामान्य व्यवहार—१४, २५, ३२, ३६, ३२

१६—संस्था—२५, ३५ ।

धृत-साधना का प्रासंगिक फल

श्रुतों की शम्भाबली में गूढ़ता नहीं है। उनमें साधनार्थे गूढ़ हैं। उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है। १।१ में सकल्प-पूर्वक धात नहीं करने का श्रुत है। अदृश्यहीन हिंसा, आबेग क्रोध, लाजब, अपिकार, धमिमान, कपट—की स्थिति में होने वाली हिंसा सकल्पही हिंसा है। इसका पहला रूप शौकिया मनोवृत्ति से बनता है—शिकार खेचना, भैंसों या बूमरे जानवरों के साथ छड़ते हुए उन्हें मारना, ये और इस कोटि के दूसरे कार्य जीवन के आवश्यक अंग नहीं होते, केपछ ब्रीड़ा या मनोरंजन-मात्र होते हैं। इसलिये धनुप्रती उनसे बर्ने। दूसरा रूप साम्राज्य-वादी व समहबादी मनोवृत्ति, जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनता है—धाम्मण करना, धाग लगाना, मड़काना, बिद्रीह फैलाना—ऐसी मनुवृत्तियाँ सकल्पही हिंसा के ही रूप हैं। 'सकल्पपूर्वक धात नहीं करना'—इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्तेजना

मिले, वैसी प्रवृत्तियों न करना—यह भी उसी में समाया हुआ है। इसलिये अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहें। आक्रमण न करना—यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्त्व से भी आगे जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पंचशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के सूत्र में बाँधा है, उसमें एक शील है—आक्रमण न करना। यह अणुव्रत-साधना की बहुत बड़ी विजय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिंसा है, तभी राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की सधि का स्वर विवशता के बिना ही बलवान् बनता जा रहा है। सोम और विद्रोपपरा वैयक्तिक या जातीय आक्रमण न हो, वैसा विवेक-जागरण भी अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की वृत्ति का डाम है—शान्ति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति, विश्व शान्ति। अनाक्रमण मैत्री की पहली मजिल है। आक्रमण की वृत्ति क्रूरता से बनती है। यह अंकुरित न हो, इसके लिये छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (१) कठार बन्धन से बाँधना, (२) अङ्ग-विच्छेद करना, (३) डाम देना, (४) निर्दयतापूर्वक पीटना, (५) पशुओं को आपस में सड़ाना, (६) त्रिशूल आदि के दाग छगाना, (७) बछातू दूमरों को अपने अधीन बनाना व अधीन किये रखना, ये छोटी किन्तु क्रूरता की वृत्ति को पापण करनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं। अनाक्रमण की भावना को प्रबल बनाने के लिये इनका निवारण भी अपेक्षित है।

शास्त्रास्त्र और गोळा बाण्य के ज्योग-धन्यों का नियंत्रण भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिये आवश्यक है। आक्रमण की भावना के रहते हुए निःशास्त्रीकरण की याव नहीं पड़ती, जैसे ही अस्त्र-शास्त्रों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ अनाक्रमण की संगति नहीं होती। शास्त्रास्त्रों का निर्माण करनेवाले व्यापारी आक्रमण की वृत्ति को उभारने में ही अपना साध देकरते हैं। आक्रमण की जड़ हिसाने के लिये पारिपार्षिक पोषण-तत्त्वों को उखाड़ फेंकना ही होगा।

जिस राष्ट्र की व्यापारिक साध नहीं होती उसका व्यापार भी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनता। नैतिकता की कमी प्रतिष्ठा में भी कमी लाती है। व्यापारिक हानि के साथ-साथ व्यावहारिक हानि भी होती है। व्यापारिक अप्रामाणिकता छोड़ने का परिणाम केवल निर्यात वृद्धि ही नहीं होता, उससे राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास का अनुमान भी किया जाता है। व्यापार में क्रूर व्यवहार—(१) मास पाकर नहीं मिला या कम मिला, (२) अच्छा मास पाकर पुरा मिला, (३) मूल्य पाकर नहीं मिला या कम मिला, (४) सौदा करके नहीं किया—करने से—ऊपर बताये हुए काय करने से प्रतिष्ठा टूटती है, नैतिक पतन होता है इसलिये ऐसे कार्य जो प्रथम की भाषा में नहीं आये हैं किन्तु ये इनकी भावना से परे नहीं हैं। जिस समाज में (१) रिश्वतों का व्यापार, (२) बेरवा-वृत्ति से आजीविका, (३) साइसेंस, मौफरी, टेका आदि प्राप्त करने के लिये पृणित तरीकों का प्रयोग,

(४) स्त्रियों को धमका, फुसला, बहका, छुमाकर विवाह करना, (५) विश्वासघात करना, (६) झूठा छात्रसंस, (७) अनिष्टकारी सलाह, (८) झूठे राशनकार्ड बनाना, (९) जुआखाना सुलवाना—ऐसी अपन्य प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं, वह ठन्नत सांस्कृतिक चेतना-वाला नहीं होता इसलिये व्यापार सम्बन्धी अनैतिकता निवारण की साधना सामाजिक स्वस्थता को भी कम महत्वशाली नहीं बनाती ।

आन्दोलन के प्रवर्तक

आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यजी मुलसी जैन भ्रमण-परम्परा के कुशल नेता हैं। गौर वर्ण, ममत्ता क्य, सहज आकर्षण, प्रसन्न मुद्रा, चमकती आँखें और विशाल सडाट—यह उनका बहिर-दरान है। चरित्र विकास के छन्नयन की महान् आकांक्षा, अनामद और समन्वय दृष्टि का व्यवहार में उपयोग, मौखिक शक्तियों के विकास पर आध्यात्मिकता के बंधुता की सुदृढ़ आस्था; यह है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व।

धन से धर्म नहीं हाता, हृदय-परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती, बल-प्रयोग हिंसा है, पारस्परिक सहयोग सामाजिक तत्त्व है, असमयी ज्ञान का अधिकारी नहीं है आदि २ जीवन-स्वर्गी तैरापय की प्रसूट मान्यताओं के बाहक होने के कारण वे क्रान्ति के सूत्रधार हैं। उनके विशाल व्यक्तित्व और कुशल बलव्य मे अपार विलों को छुमा है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से भारत और अन्धकार को भिन्न नहीं मानते। वे समूचे विश्व को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित और नैतिकता में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं।

श्री मिश्रलक्ष्मी ने उसी पत्र में लिखा था—“अणुश्रुत-बया की ओर प्रथम व्यवस्थित इ गित महर्षि महावीर ने किया है—ऐसी मेरी जानकारी है। अब इस विचार के प्रवर्तक महर्षि महावीर माने जाने चाहिये, आचार्य तुलसी नहीं। मेरा दावा है कि स्वयं आचार्य तुलसी जैसा महर्षि महावीर का नम्र अनुयायी यह मंमूर नहीं कर सकता कि वह अणुश्रुत-पर्या का प्रवर्तक या ऋष्यनाकार है। यदि आप मेरे दावे को कसना चाहें तो उसे आचार्य तुलसी के सामने पेश कीजिए और उनकी प्रतिक्रिया मुझ छींखिये।”

अणुश्रुत-पर्या के प्रवर्तक भगवान् महावीर हैं—यह सच है। पर अणुश्रुत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं—यह भी सत्य ही सच है। भगवान् ने अपने समय में अणुश्रुतों के नियमों की रचना की। गृहस्थ-जीवन में उनका प्रवेश कराया। उस बात को आज ढाई हजार बप हो गये। युग बदल गया। पुराणों के रूप भी बदल गये। श्रुत ग्रहण करने की परम्परा शिथिल हो गई।

आचार्य तुलसी ने श्रुतों का नये रूप में वर्गीकरण किया। बतमान की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उन्हें आन्दोलन का रूप दिया। उस नये वर्गीकरण और आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं।

एक बार एक भाई ने पूछा—बया अणुश्रुत का आरम्भ आचार्य तुलसी ने किया है ? मैंने कहा—नहीं। वह बाबा—तो

आन्दोलन के प्रवर्तक

आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यजी कुछसी जैन भ्रमण-परम्परा के कुशल नेता हैं। गौर वर्ण, मंमळा कद, सहज आकर्षण, प्रसन्न मुद्रा, चमकती आँखें और विराळ छलाट—यह उनका बहिर-दर्शन है। परित्र विकास के अन्वयन की महाम् आकांक्षा, अनामद और समन्यय दृष्टि का व्यवहार में उपयोग, भौतिक शक्तियों के विकास पर आध्यात्मिकता के अंकुरा की सुदृढ़ आस्था; यह है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व।

धन से धर्म नहीं होता, हृदय-परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती, बल-प्रयोग हिंसा है, पारस्परिक सहयोग सामाजिक उत्तर है, असंयमी दान का अधिकारी नहीं है आदि २ जीवन-स्पर्शी त्थेरापय की प्रसूट मान्यताओं के बाहर होने के कारण वे क्रान्ति के सूत्रधार हैं। उनके विराळ व्यक्तित्व और कुशल पच्छम्य ने अपार दिनों को गुभा है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से भारत और अभारत को भिन्न नहीं मानते। वे समूचे बिस्व को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित और नैतिकता में प्रतिष्ठित रैग्यना चाहते हैं।

श्री मिस्त्रछत्री ने उसी पत्र में लिखा था—“अणुत्रत-प्या की ओर प्रथम व्यवस्थित इ गित महर्षि महावीर ने किया है—
 ऐसी मेरी जानकारी है। अब इस विचार के प्रवर्तक महर्षि
 महावीर माने जाने चाहिये, आचार्य तुलसी नहीं। मेरा दावा
 है कि स्वयं आचार्य तुलसी जैसा महर्षि महावीर का नम्र
 अनुयायी यह मंगूर नहीं कर सकता कि वह अणुत्रत-प्या का
 प्रवर्तक या कल्पनाकार है। यदि आप मेरे दावे को क्मना
 चाहें तो उसे आचार्य तुलसी के सामने पेश कीजिए और ग्मनी
 प्रतिक्रिया मुझ लीखिये।”

फिर प्रवर्तक कैसे ? मैंने कहा—इस आचार्यजी को अणुमन के नहीं किन्तु अणुमन-आन्दोलन के प्रवर्तक मानते हैं। दूसरी बात—प्रवर्तक का अर्थ केवल प्रारम्भकर्ता ही नहीं, संचालक भी है। संचालन का दायित्व अभी आचार्यजी के हाथों में है। इसलिये भी यह उपयुक्त है। तनको इस अर्थ में सन्देह हुआ। मासन्वा विशाल शब्द-सागर देखा। उसमें प्रवर्तक का अर्थ संचालक मित्र और प्रारम्भकर्ता को समाधान भी मिल गया।

दूसरा अध्याय

आन्दोलन के पार्श्व में

नैतिक विकास क्यों ?

नैतिक-विकास का प्रश्न सामाजिक प्रश्न है। आध्यात्मिकता यद्यपि वैयक्तिक होती है, किन्तु आध्यात्मिकता-हीन व्यक्ति स्वतन्त्र माय से नैतिक नहीं हो सकता। इमलिये समाज के सम्पर्क में वह नैतिकता बन जाती है। नैतिकता के बिना व्यक्ति पवित्र नहीं रहता, श्रुतना ही नहीं, किन्तु सामूहिक व्यवस्था भी नहीं टिक पाती। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रामाणिक न रहे, ईमानदार न रहे, तब मनुष्य यक्षता है। संदेह से भय और भय से क्रूरता बढ़ती है। मनोविज्ञान के अनुसार भय के दो परिणाम होते हैं—पलायन और आक्रमण।

अधिकारा छद्माह्वयों, अमियाग, आक्रमण और युद्ध, भय के कारण होते हैं। यदि मनुष्य नैतिक रहे तो सहज ही विश्वास का बातावरण पैदा हो जाय। वर्तमान की विभीषिका और शस्त्र निर्माण की स्पर्धा इसलिये तो है कि एक दूसरे के प्रति संदिग्ध है, भयभीत है और क्रूरता अनायास बढ़ रही है। नैतिक-विकास के बिना हम प्रवाह को रोकना नहीं जा सकता।

नैतिकता क्या है ?

व्यापार में प्रामाणिकता रह मिछाबट न हो, कम वीर-माप न हो—ये नैतिकता की बहुत छोटी बातें हैं। नैतिकता का मूल यह है कि अपने स्वत्व को व्यापक बनाने की वृत्ति न हो, दूसरों के अधिकारों को हड़पने की चेष्टा न हो। मूल यहहीन हो रहा है। इसलिये बहुत छोटी बातें अमकूट बन रही हैं। यदि उनका मूल टूट जाता तो इन छोटी-छोटी बातों को अर्थ का रूप देने की आवश्यकता नहीं होती। अतः समय है। समय का स्वरूप विभक्त नहीं होता। अतः एक ही है, वह है अहिंसा। वैयक्तिक साधना में अहिंसा का अभिन्न रूप ही पर्याप्त था। उसका सामूहिक आचरण हुआ, तब उसकी अनेक शाखाएँ निकलीं। अर्थों का विकास हुआ। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अर्थात् और अर्थपर्य्य उसके सामाजिक पहलू है। पर्याय पर पर्याय आने के लिए हिंसा का प्रयोग होता है, तब वह असत्य कहलाती है। पर्याय-संप्रद के लिए उसका प्रयोग होता है, तब वह परिग्रह कहलाती है।

वासना का रूप है वह अत्रहास्य बन जाती है। चोरी का प्रश्न विच्छत है। युग रहा सर्वथा का। भोग सारे मसलों को तर्क से हल करना चाहते हैं। कहा जाता है—युग बदल गया, समाज की परिस्थितियाँ बदल गईं। बदली हुई समाज-व्यवस्था में अहिंसा आदि वृत्तों का कोई उपयोग नहीं रहा। वे आज अबैधानिक हो गये हैं। पुराने अमाने में एक व्यक्ति को चाहे जितना धन संप्रह करने का अधिकार था। इसलिये उसकी धन-राशि का लेना चोरी माना गया। यथमान समाज-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के अधिकार निरंकुश नहीं हैं। आज मान लिया गया है कि धन का अनावश्यक संप्रह किसी के पाम नहीं होना चाहिए। यदि कोई करे तो उसका धन सूर लेना चाहिए। यह चोरी नहीं है, चोरी है—अनावश्यक संप्रह करना। हो सकता है—सामाजिक व्यवस्था और उसकी मान्यता के परिवर्तन के माध चोरी की परिभाषा थोड़ी जटिल या विवादास्पद हो जाये। पर उसका कोई अर्थ ही न रहे, यह तो तब तक सम्भव नहीं, जब तक व्यक्तिगत स्व मैसा अधिकार मनुष्य को मिला रहेगा और मनुष्य में अदृष्टि का भाव बना रहेगा।

चोरी परिग्रह का ही एक रूप है। आकांक्षा ही मनुष्य का किसी बहाने दूसरे की वस्तु लेने के लिये प्रेरित करती है। बैधानिक ढंग से वस्तु संप्रह करने में मनुष्य को माया नहीं करनी पड़ती, श्मदिये वह संप्रह की प्रक्रिया कहलाती है और

अवैधानिक ढङ्ग से दूसरों की वस्तु लेने में माया का जाह्नव बिलाना पड़ता है, विचार और काय की सहजता का क्षिपामा पड़ता है, इसलिये वह प्रक्रिया बोरी कइलाती है। वस्तु का सम्पद स्वयं सर्वोप है, मले फिर वह वैधानिक ढङ्ग से हो या अवैधानिक ढङ्ग से। वैधानिक ढङ्ग से किये जाने वाले सम्पद को छोड़ने में सामाजिक प्राणी अपने को असमर्थ पाता है, किन्तु अवैधानिक सम्पद के लिये मनुष्य को बहुत ही नीचे उतरना पड़ता है इसलिये उसे पूजित अर्थ में बारी माना गया और सम्पद की इस प्रक्रिया से बचना आवश्यक माना गया।

समाज के तीन पहलू हैं—आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक-आयोजन, आर्थिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक संगठन और जीवन की सभ्यता के लिये नैतिक विकास आवश्यक माना जाता है। नैतिकता का स्रोत आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता के माने हैं—आत्मा की अनुमूर्ति और उसके शोषण का प्रयत्न। यह वैयक्तिक वस्तु है। पाहरी जगत् में व्यक्ति सामाजिक बनता है। अन्तर-जगत् में यह अकेला होता है। अकेलेपन में जो अध्यात्म हाता है, वही दो में नैतिकता बन जाती है। नैतिकता अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है।

क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?

नैतिकता का अखण्ड रूप है—आध्यात्मिकता या भौतिक आरूपण से मुक्ति। यह है अहिंसा। अहिंसा और आध्यात्मिकता एक है, यह शाश्वत है, देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होती। आध्यात्मिकता का अखण्ड रूप है—नैतिकता। स्वरूपतः यह भी अपरिवर्तित है, किन्तु प्रकारों के रूप में यह परिवर्तनशील भी है। देश, काल की स्थिति के अनुसार मुराई के प्रकार बदलते रहते हैं। मुराई नया रूप लेती है, नैतिकता का रूप भी नया हो जाता है। वास्तव में अनैतिकता का रूप भी एक ही है। यह है हिंसा। हिंसा के नये प्रकार का प्रतिहार करने के लिए अहिंसा का नया प्रकार बनता है। स्वरूप न हिंसा का बदलता है और न अहिंसा का।

नैतिक-विकास किस भूमिका पर हो !

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख का मूल है—शान्ति और शान्ति का मूल है—भौतिक आरक्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आरक्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन होता है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और बड़पन—ये भौतिक या भौतिकता से सम्बन्धित हैं। इनकी अपभारण बढ़ती हैं, आत्मोपम्य बुद्धि मिट जाती है। प्राणी-प्राणी में या मनुष्य-मनुष्य में समता के भाव रहते हैं तो क्रूरता नहीं बढ़ती। उसके बिना अनैतिकता का पक्ष बढ़ता आता है। मनुष्य-जीवन का दूसरा पक्ष रागात्मक है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य अनैतिक कार्य करता है। आतपीयता या राष्ट्रियता के आधार पर आ नैतिकता का विकास हुआ है, हममें उसका स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह जाति और राष्ट्र के संकुचित प्रेम पर टिकी हुई होती है। वह अपनी सीमा से परे हम अनैतिकता पन आती है। जो व्यक्ति अपने राष्ट्र के हितों के लिये हमारे राष्ट्र के हितों को कुचलने में सक्षम न करे, क्या

इसे नैतिक माना जाये ? जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र—ये सारे समानता और उपयोगिता की दृष्टि से बनते हैं। मनुष्य जाति एक ही है—यह बात मुझा दी गई है। गोरा गोरे से प्रेम करता है और काले को पशु से भी गया—बीठा समझता है। मर्बर्न और असयर्न हिन्दुओं में भी एसा ही चल रहा है। जातीय और राष्ट्रीय पक्षपात भी स्पष्ट है। ये स्थूल दृष्टि से अच्छे भी लगते हैं। लोग उन योरापियनों को सराहते हैं, जो अधिक कीमत देकर भी अपने वैराघासियों की दुकान से चीन खरीदते हैं। वही चीज दूसरी जगह कम कीमत से मिलने पर भी नहीं खरीदते। इसे राष्ट्रीय प्रेम का विकास माना जाता है। पर हम थोड़े से गहरे चलें तो देखेंगे कि यह, मनुष्य जाति एक है, उसकी विपरीत दिशा है। इस छोटी की भाषा-भारण ही उम्र बनकर सभ्य और युद्ध के रूप में पट्ट पड़ती है। अपने अधिकार-क्षेत्र का विकास हो, अपनी जाति या भाषा की प्रगति हो, यह भावना यही तक सीमित रहे तो प्रियता को शर्म्य भी माना जा सकता है किन्तु वह प्रियता दूसरों के लिये अप्रिय परिस्थिति पैदा कर देती है, यहाँ मानव जाति की अखण्डता विमल हो जाती है, इसलिये यह प्रेम भी अखण्ड मानवता की दृष्टि से अप्रेम ही है और उसके आधार पर विफसित होने वाली नैतिकता भी स्वतन्त्र भूत्यों की दृष्टि से अनैतिकता ही है, इसलिये अणुभ्रम-आन्दोलन का यह प्रयत्न है कि नैतिकता का विकास केवल आध्यात्मिकता के आधार पर

हो। दूसरों के अहित की चेष्टा करने से भले फिर दूसरों का अहित न हो, स्वयं उसी का अहित होता है इसलिये दूसरों के अहित की चेष्टा से बचा जाना—यह आध्यात्मिकता है। इसके आधार पर जो नैतिक-विकास होता है, वह किसी के लिये भी खतरनाक नहीं होता। यह मानव की ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र की एकता की दिशा है। यह विचार कितना वास्तविक है, उतना ही वैज्ञानिक है। इसकी प्रक्रिया निश्चित है। इतिहास साक्षी है कि जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र को मनुष्य ने ही जन्म दिया और आगे जाकर उसकी कृषियाँ ही उसके लिये अभिराज्य बनीं—संपर्क और संहार का कारण बनीं। राष्ट्र और क्या है ? व्यक्ति के स्वार्थों का विस्तार-क्षेत्र है। परिवार में स्वार्थों का विस्तार होने लगा और वह होते होते राष्ट्र तक होता चला गया। यह स्वार्थ या भोग के विस्तार की दिशा है। इस दिशा में अन्तर-राष्ट्रीयता की भावना भी विरोध मूल्यवान् नहीं है। आध्यात्मिकता इसकी विपरीत दिशा है। उसका स्वरूप है—स्वार्थ-त्याग या भोग-त्याग। अपने हित के लिये, अपनी शान्ति के लिये स्वार्थ और भोग का समय कीलिये नैतिकता का विकास अपने आप होगा :

“मुझसे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग लठे जन जन का मानस, उसी जागृति पर पर हो ॥”

अनैतिकता के मूल को उखाड़ फेंको

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक वातावरण के वैपम्य से छद्मूत होती है—ऐसा माना जाता है। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है पर अबाधित (बाधा रहित) सचाई नहीं है। अनैतिकता भोग-वृत्ति से पैदा होती है, भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैपम्य नहीं आता। भोग की मात्रा बढ़ती है, तभी आर्थिक और राजनैतिक वातावरण का वैपम्य बढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्पन्नता मिलती है। जो लोग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैपम्य में ढूँढ़ते हैं, भोग-वृत्ति के नियन्त्रण की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैपम्य का निवारण किया चाहते हैं, उन्होंने पुराई की जड़ को नहीं पकड़ा है। भोग-वृत्ति प्रबल रहेगी तब वैपम्य मिटेगा कैसे? यह आलाचनीय विषय का महत्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होता है, कुछ ब्यवस्था बनती है। समय बीतता है। उमरी हुई भोग-वृत्ति फिर उस पर छा जाती है। वातावरण विपन्न बन जाता है। भोग के लिये शक्तियोग की उपामना सगमग समूचे मानव-समाज में परिभ्याप्त है। आर्थिक और राजनैतिक समता तक पहुँचने का प्रयत्न समाज के लिये भुरा नहीं है पर वह केवल यात्रा का बिमान्ति गृह है—इसे नहीं भुलाना है। आधिर यहाँ तक चलना है, जहाँ अनैतिकता की जड़-मात-वृत्ति पैर रापे बैठी है। उसे उखाड़ फेंकना है। व्रत का साध्य यही है।

नैतिकता की बड़ को मजबूत किया जाय

समाज का समतापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढाँचा ही नैतिकता का आधार है—वह भी अर्द्ध-सत्य है। उड़खड़ाती हुई आर्थिक स्थिति में भी त्याग के संस्कारों में पक्ष वाले लोग अनीति से परे रहे हैं और रहते आ रहे हैं। आर्थिक साम्य में भी अपराधी का छम्पा सूचीपत्र बनता है। इन दोनों स्थितियों को अन्तिम छोर या आपदादिक^१ बट भाँटें नहीं कहा जा सकता। वह सचाई है। इसी के सहारे हमें नैतिकता का आधार ढूँढ़ना है। पुराई न करने में अपर्ण भलाई का विश्वास, पुराई का पुरा फल भोगने के निश्चित नियम का विश्वास, आत्मा के अमरत्व का विश्वास, ये तीनों विश्वास नैतिकता के आधार हैं। इनका विकास किये बिना नैतिकता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता। समाजार्पण^२ और सामाजिक एकता की दृढ़ भावना भी नैतिकता का स्पृह

१—विद्येय स्थिति में हीमे जाती ।

२—बपाव के लिए अर्पण अर्पण ।

आधार बन सकती है पर इस आधार पर नैतिकता व्यापक नहीं हो सकती। वह अपने समान और राष्ट्र तक ही सीमित होती है। वह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक-कृतता के रूप में उभर आती है, जैसा कि बहुत सारे भौतिक-विचार प्रधान राष्ट्रों में हो रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक साम्य के आधार में बह जानेवाली नैतिकता का है। इसलिये हमें पथ की छम्बाई को कम नहीं नापना चाहिये। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके सत्कार दृढ़मूळ किये जायें—यह बहुत बड़ी अपेक्षा है।

आन्दोलन की आधार-भूमि अहिंसा

आन्दोलन की आत्मा प्रथ है। प्रथ के मौलिक विभाग पाँच हैं। शेष सब उनकी व्याख्याएँ हैं। पाँचों में भी मूल-मूल प्रथ एक अहिंसा है। सत्य आदि उसी के पदार्थ हैं।

आन्दोलन के कुछ विषयों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र से है। वे अहिंसा को उत्तेजना देते हैं। इसलिए इनके संघर्ष की ओर संकेत दिया गया है। इहेज में जीव हिंसा का सीधा प्रसंग नहीं है। पर हिंसा का मतलब केवल जीव-वध ही नहीं है, बसका मुख्य सम्बन्ध मनुष्य की वृत्तियों से है। वृत्तियाँ सोमपूर्ण बनती हैं। वे सहज ही हिंसा की ओर झुक जाती हैं। हिंसा के प्रमुख कारणों से बचे बिना हिंसा से नहीं बचा जा सकता।

कुछ लोग ध्यात्र को अहिंसक व्यापार मान बैठे हैं, और कुछ साग सट्टे को। सेना में हिंसा दीव्यती है। व्यापार में चाहे कितनी घूर-वृत्ति हो, बह हिंसा नहीं छगती। तात्पर्य कि हिंसा की मान्यता जीव-वध के साथ जुड़ी हुई है, बेसी वृत्तियों

के साथ जुड़ी हुई नहीं है। अणुत्रव-मान्दोलन वृत्ति के परिशोधन को प्रधान मानकर चलता है। जीव-वध का हेतु भी अणुत्रव-वृत्ति है। वह छूटती है तो जीव-वध की प्रवृत्ति भी छूट जाती है।

चोरी क्या है ? शोपण क्या है ? इन सारे प्रश्नों का समाधान अहिंसा की पार्श्व-भूमि में ही ढूँढ़ना चाहिये।

विस्तार में जायें तो चोरी शोपण आदि बुराइयाँ छूटें, यह अभिप्रेत है।

संश्लेष में, हिंसा का बत्तेझना देनेवाली प्रवृत्ति छूटे, फिर भला बसका कोई नाम हो या न हो। इस प्रकार अणुत्रव-मान्दोलन अहिंसा की भूमि पर पनपने बाछा एक अनुष्ठान है।

क्या अहिंसा सफल हो सकती है ?

छोग दण्ड शक्ति से परिचित है, इसलिये उसमें विरबाम जमा हुआ है। अहिंसा में जो शक्ति है, वह हिंसा या दण्ड में नहीं है। पर दूसरों के नियंत्रण के लिये उसका कोई उपयोग नहीं है। हमरों का नियंत्रण दण्ड-शक्ति ही कर सकती है। इसलिये छोग चाहते हैं, दण्ड की शक्ति खत्म हो रहे। हमके बिना अराजकता की स्थिति हो जायेगी।

अनेक राष्ट्रों में अन्याय, अत्याचार और बत्पीड़न के विरोध में हिंसक क्रान्तियाँ हुईं। वे अपने लक्ष्य में सफल हुईं। विरवास बढ़ हो गया कि हिंसा सफल होती है। हिंसा की सफलता का महत्व है—भौतिक-लक्ष्य की पूर्ति।

आज अहिंसा की सफलता का मानदण्ड भी बढ़ी है। आर्थिक कठिनाइयों को मिटा सके तो अहिंसा सफल हुई, माना जायेगा और उन्हें न मिटा सकी तो विफल। सपमुच यह भूख हो रही है, अहिंसा का लक्ष्यहीन किया जा रहा है। अहिंसा का लक्ष्य जीवन-शोधन है। उसे अधिक प्रभावशाली

किया जाय तो कठिनाइयों को पार करने का द्वार अपने आप खुलता है। अहिंसा का प्रयोग आर्थिक गुस्ती को सुलझाने के लिए किया जाये ता सबसे परोक्षत हिंसा को ही सहारा मिलता है।

आर्थिक समस्या के समाधान का सूत्र 'सामाजिक साम्य' हो सकता है। अहिंसा का स्वरूप पवित्रता है, इसलिए वह व्यापक होने पर भी वैयक्तिक है। व्यवस्था का स्वरूप नियंत्रण है। उसमें स्थिति के समीकरण की क्षमता है। इसलिए व्यवस्था के परिणाम से अहिंसा को नहीं आकना चाहिए। उसकी सफ़लता जीवन की पवित्रता में निहित है। स्वतन्त्रता की रक्षा अहिंसा से हो सकती है। हिंसा या दण्ड-शक्ति की माया जितनी बढ़ती है, उतनी ही परतन्त्रता बढ़ती है। मानवीय सफलता का सर्वाधिक उत्कर्ष स्वतन्त्रता है और वह अहिंसा के द्वारा ही उभ्य है।

अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत

अहिंसा और हिंसा ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धाराएँ कभी मिलती नहीं। एक हीबन में दो धाराएँ हो सकती हैं। एक वृत्ति में दोनों नहीं हो सकती। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। हिंसा जोषन की अनिवार्यता या अशक्यता और आत्म-शक्ति के अल्प-विकास की दशा में पनपनेवाली घुटाई है।

आत्मा, शरीर, बाणी और मन (या आत्मा और शरीर) की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है, वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, बाणी और मन) का संगम है। व्यक्ति भी स्व-पर के संगम से बनी हुई सत्या है। जीवन का स्व-अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में स्वामिमुगता या स्वरमण है, वही अहिंसा है। परामिमुखता या पदार्थामिमुखता विभाव, विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास गुरु होते ही विभाव एकदम चला नहीं जाता। स्वभाव की मात्रा कम होती है, विभाव सताता है, अशान्ति और उद्वेग छाता है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है—मन, बाणी शरीर और पदार्थ के प्रति नियन्त्रण शक्ति बढ़ती है, तब विभाव छटना सताता नहीं। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावोन्मुख हो जाती हैं।

अहिंसा विराट् होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति दूर जाकर भी “सबका हिंसक बन जाये”—उतना दूर नहीं होता। उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम-से-कम परिवार का शत्रु नहीं होता। वह हर क्षण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति क्रोध करता है पर क्रोध ही करता रहे—एमा नहीं होता। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरन्तर नहीं बढ़ती। क्रोध की मात्रा बढ़ती है, व्यक्ति में पागलपन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बढ़ी हुई मात्रा भी शान्ति नहीं देती। थोड़े में समझिये हिंसा का सीमित क्रिये बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विराट् है, अनन्त है, घनघन से परे है। कोई समूचे जगत् के प्रति अहिंसक रहे ता रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है, प्रेम का धरातल ऊँचा और निर्विकार होता है उससे आनन्द का स्रोत फूट निकलता है।

अहिंसा अनन्त और अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत

है, फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजतया नहीं रहता। इसका कारण नियन्त्रण-शक्ति का अभाव है। मन, पाणी और शरीर की निरंकुश-वृत्तियों का प्रतिरोधन करने की आत्म शक्ति का कितना कम विकास होता है, उतना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ जाता है। हिंसा की मर्यादाएँ कृत्रिम होती हैं। उनमें तड़क-भड़क और सुभावनापन भी होता है। अहिंसा में विस्मावटीपन या बनावटीपन नहीं होता। यह आन्तरिक मर्यादा है। यह आती है, तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व—जीवन की स्वतन्त्रता निखरती है। आचार्यजी तुलसी में अपने एक प्रबन्ध में कहा—“आत्मानुवर्ती नियमानुवर्ती यानी अहिंसक ही यास्य में स्वतन्त्र है।”

मनुष्य बुराई करते नहीं सक्रियाता। इसीछिपे हुनियों का प्रवाह बिकार की ओर है। भाग ओर इन्द्रियों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है—प्रकृति विजय की ओर मनुष्य सफल अभियान कर रहा है। पर यह लक्ष्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति विजय नहीं है। शरीर, पाणी और मन को जीते बिना प्रकृति नहीं जीती जा सकती। स्व विजय के बिना प्रकृति विजय घरदान न बन अभिशाप बन जाती है। स्व विजय का प्रयत्न पहुँच थाड़ा होता है; इसीछिपे भाग सता रहे हैं, बिकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दूसरे के माय स्पर्श है। पाठावरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अमय है। अपनी मौत से डरना भी

हिंसा है। जो दूसरों का पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाये रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच और काले-गोरे के पक्षों में फँसे हुए हैं, उन्हें देखिये वे क्षम्य नहीं हैं, शान्त नहीं हैं। जिनकी भोग छिप्ता बढ़ी हुई है, जो परिग्रह के फुल्ले और शोषण के पुष्प बने हुए हैं, उनसे पूछिये, उन्हें कितनी शान्ति है ? शान्तिपूर्ण जीवन वही बिता सकता है, जो ऊपर की घुराइयों से दूर है। घुराई से दूर वही रह सकता है जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व नियन्त्रण का पर्याप्त विकास होता है।

संख्या और व्यक्तित्व

किमी भी स्थिति का आच्छन्न करने के लिये संख्या का उपयोग होता है। अणुप्रति-आन्दोलन जन-मानस को चिन्ता घूर रहा है, इसकी जानकारी के लिये अणुप्रतियों की संख्या की जाती है। पर आन्दोलन का विरवास संख्या में नहीं, व्यक्तित्व में है। प्रत की सफ़लता चरित्र के विकास से मापी जाती है। चरित्र-माम्यन्त व्यक्ति संख्या में भले ही घोड़े हों, समाज के लिये पथ-दर्शक बन सकते हैं। प्रतों को स्वीकार कर उनके आचरण से जी चुराने वाले, आन्दोलन को प्रभावशाली नहीं बना सकते और अपना भी भला नहीं कर सकते। आन्दोलन की भावना जन-जन तक पहुँचनी चाहिये। फिर कोई अणुप्रती बने या न बने, इसकी चिन्ता आन्दोलन के संचालकों को नहीं होनी चाहिये। जो अणुप्रती बने, उन्हें माग-दर्शन मिले—इस दृष्टि से संख्या करना उचित समझा है।

सघटन या विघटन

सयम का अर्थ ही विघटन है। इसका मूल व्यक्तिवाद है। व्यक्ति का अपने छिप अपने पर अपना जो नियंत्रण है, वह सयम है। इसका सघटन हो ही नहीं सकता। अणुगत आन्दोलन कोई सघटन नहीं है। इसमें पद और पदाधिकारी भी नहीं हैं। यह प्रती के अमुरीजन की समान भूमिका है।

बुद्ध लोग अपने को (अवस्था या पद-मयादा में) बड़ा मानते हैं। वे प्रथ लेने में सजुबाते हैं। उनके विचार से प्रथ लेने की आवश्यकता छोटों को ही है। किन्तु यह विचार नहीं सगता। प्रथ मन का दृढ़ सङ्कल्प है। सङ्कल्प की दृढ़ता के बिना बुराई से बचना सरल नहीं है। पदों का सङ्कल्प महस-भावतया दृढ़ ही होता है—ऐसा नहीं मान लेना चाहिये। सम्मय है, सङ्कल्प होने पर भी कहीं-कहीं व्यक्ति फिमल आये। पर संङ्कल्पहीन के फिसलने में तो फही बाधा ही नहीं है। सङ्कल्प एक सहज आसम्बन है, जो व्यक्ति को फिसलने से बचाता है। संङ्कल्प वाले व्यक्ति बहुत होते हैं। सब बाहरी रूप में महद ही एक संगठन होता है। वे सब अपनी अपनी पवित्रता में बिरबास रखने वाले हैं। इसलिये बास्तब में इनका सघटन विघटन ही है।

श्रद्धा और श्रुकाव का विरोध मिटाने के लिये सयम का पाप

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह जीवन को सन्नत बनाने वाले तत्व हैं, यह श्रद्धा अभी हुई है। इनके आचरण में मान्यता का कोई विरोध नहीं है। विरोध है मानसिक श्रुकाव का। इन्द्रिय और मन विषय के प्रति क्लिष्टे रहते हैं। मनास शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में उनका आकर्षण हाथा है। उनकी प्राप्ति के लिए धन की अन्वेष होती है। अहिंसा और सत्य मान्यता-मात्र रह जाते हैं। आचरण के तत्व धन जाते हैं हिंसा और असत्य।

भोग-वृत्ति का सयम किए बिना मान्यता और आचरण में एकरूपता नहीं आ सकती। उनकी एकरूपता के लिये त्याग या मयम पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। 'सयम-शुद्ध जीवन' सयम ही जीवन है, इस पाप का आधार यही तथ्य है।

नकारात्मक दृष्टिकोण

साध्य परोक्ष रहता है। लोग उसकी दिशा में चलते हैं, साधन की दिशा-सुई के सहारे। परोक्ष साध्य व्यामोह का हेतु बने, यह अचरज की बात नहीं। अचरज यह है, साधन में व्यामोह जो आये। मनुष्य-जीवन का साध्य है—उद्यम या विकास। उद्यम के बाद अस्त और अस्त के बाद उद्यम होता है—यह निर्मग्न जैसा है। मनुष्य चैतन्य का घनी है, इसलिये उसमें अति निर्मग्न तक पहुँचने की गति है। फिर भी यह सरल नहीं। मनुष्य का चैतन्य अनेक सस्कारों से ढका रहता है। अस्त न हा, उद्यम पना रह, यह स्थिति सस्कार शून्य दशा या निर्विकल्प्य समाधि में बनती है। सस्कारी जगत् की गति सस्कारों के पीछे है।

मनुष्य मोक्ष सकता है, इसलिये वह चाहता है—उद्यम हो। स्वार्थी अपना उद्यम चाहता है। कोई परिवार का, कोई समाज का, कोई राष्ट्र का और कोई सबका उद्यम चाहता है। उद्यम की स्थिति एक नहीं, मापा एक नहीं।

उदय परमार्थ-सापेक्ष होता है, और पदाथ-निरपेक्ष। स्वार्थ-निरपेक्ष उदय में आत्मा में स्वाथ और परमार्थ में द्वैध नहीं रहता। यह है आत्मा का उदय, या निवृत्ति या सर्वम का फलित रूप है।

आत्म-वृत्त या आत्म-विजातीय पदार्थ के अभाव में वह पूर्ण बनता है और इनका संयोग ममकार बढ़ाता है, ममकार इसे आपरण बन ठाँक लेता है। यह है आत्मा में आत्मा का अनुदय, जो पदार्थ-प्रतिबद्ध ममकार से बढ़ता है।

पदाथ-सापेक्ष उदय पदार्थ से जुड़ा हुआ है। इसकी कल्पना का आधार पदाथे-मात्रा का तरतम भाव है। पदार्थ का यथंष्ट भाव है, तात्पर्य कि उदय है। अनुदय का अर्थ है पदाथ का अभाव।

जीवन के दो पहलू हैं—आत्मा का चैतन्य और पदार्थ का अपेक्षित। दोनों के उदय की कल्पनाएँ एक दूसरे के विपरीत हैं—

१—पदार्थ-भाव—आत्मा का अनुदय।

२—पदार्थ-भाव—सांयोगिक उदय।

१—पदार्थ-अभाव—आत्मा का उदय।

२—पदार्थ-अभाव—सांयोगिक अनुदय।

शुद्ध या शरीरमुक्त आत्मा में उदय या अनुदय की कल्पना से हमें कोई तात्पर्य नहीं। वह हमारी दृष्टि से परे है। पदार्थ अपेक्षित है, इनका उदय या अनुदय क्या हो ? उदय या अनुदय

की कल्पना शरीर-भारी-जीव और पदार्थ दोनों के संयोग से बनती है।

छौकिक विचार है—मनुष्य को जो चाहिये वह मिछ जाय-यह उदय है। मोक्ष-दृष्टि के अनुसार यह अन्तरंग की शुद्धि नहीं है। जो अन्तरंग की शुद्धि नहीं, वह उदय नहीं। दो दृष्टियाँ हैं, दोनों के आचार दृश्य-श्रुत्य हैं। यह बौद्धिक विस्लेषण है, जो वस्तु स्थिति को स्पष्ट करता है। व्यवहार में वैदिक जीवन पदार्थ से बचकर चلتा नहीं। जहाँ जीवन, यहाँ पदार्थ का संयोग है और जहाँ पदार्थ-संयोग है, वही जीवन है—यह पूरी व्याप्ति है।

जीवन के लिये पदार्थ-संयोग अनिवार्य है और पदार्थ-संयोग के लिये भ्रम।

भ्रम आत्मिक धर्म नहीं, वैदिक धर्म है। वेद निर्बाह के लिये वह स्वास की भाँति आवश्यक है। आत्मिक धर्म इसका सहवर्ती होना चाहिये। आवश्यकता न हूँ, यह वैदिक अराक्यता है किन्तु सप्रह और ममकार की वृत्ति न बढ़े, शोषण और अपहरण का भाव न आवे, सबसे अधिक सुखी और ऊँचा बनने की भावना न आगे, इसलिये प्रत्येक वैदिक-प्रवृत्ति पर आत्मिक धर्म का नियमन अपेक्षित है। आत्मिक धर्म पदार्थ निरपेक्ष होता है, इसलिए यह वैदिक-प्रवृत्ति को भी अनन्त की ओर नहीं बढ़ने देता। अति भोगवाद और अति सप्रहवाद जो चلتा है, वह आत्मिक धर्म के अभाव में ही

पड़ता है। कोई व्यक्ति भोग्य-पदार्थ और उसकी आवश्यकता बढ़ाये—यह किसलिये ? तृप्ति के लिये। तृप्ति का चरम रूप अ भोग में है। भोग में क्षण भर के लिये तृप्ति की प्रतीति होती है, किन्तु सही अर्थ में उससे अतृप्ति का संस्कार बलवत् बनता है। प्रत्येक बार का भोग क्षणभर के लिये अतृप्ति को दबा बसे श्यायित्व दे जाता है। तम्बाकू का ब्यसनी तम्बाकू पी तृप्ति नहीं पाता, किन्तु तम्बाकू पीने के संस्कार को स्थायी अग्रय बनाता है। अतृप्ति संस्कारगत है। उसके पर्यवसान में अतृप्ति का पर्यवसान है। इसके लिये धिरति या निवृत्ति, संयम या अक्रियता की अपेक्षा आती है। पूर्ण सम्बर के बिना मुक्ति नहीं आती मुक्ति का अर्थ है—दैहिक कर्मण्यता का सर्व अभाव। पूर्ण सम्बर मुक्ति का मार्ग नहीं स्वयं मुक्ति है। मुक्ति का मार्ग है—संयम का क्रमिक विकास। यह कठिन साधना है। वैहिक जीवन में अवैहिक भाव सतत नहीं पड़ता। प्रवृत्ति अनिवार्य है। इसलिये निवृत्ति का प्रवृत्ति के भाव घसीटना पड़ा। वह प्रवृत्ति के साथ दो रूप में जुड़ी। प्रवृत्ति को सत् बनाने के लिये और उसे सीमित करने के लिये। प्रवृत्ति, मात्र वैहिक-अनिवार्यता रहे, उसके सहचारी राग, द्वेष या असंयम के संस्कार सक्रिय न हों, आत्मा में संयम की इतनी मात्रा बढ़ जाय, तब प्रवृत्ति सत् या सीमित बन जाती है। उसका असत्-अंश जो कि आत्मिक असंयम से आता है, मिट जाता है। आत्मिक विमुक्त चिन्तन से प्रेरित हो वह सत् बन जाती है।

असयम की परिधि में जो प्रवृत्ति पड़े, वह सत् नहीं बनती। निवृत्ति उसे सीमित बनाती है। व्यापार एक प्रवृत्ति है। व्यापार शब्द को मैं रुढ़ि में नहीं देखे जा रहा हूँ। जीविका के साधन मात्र व्यापार हैं। जीविका जीवन की पहली मजिह है। यह छूट नहीं सकती। किन्तु जीवन की आवश्यकताओं का अत्योत्करण, आवश्यकता पूर्ति के स्रोतों की सीमा और छोटगन घुराइयों का नियमन किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। नहीं तो मनुष्य अपनी निरक्षुश या असीम प्रवृत्ति का स्वयं प्राप्त बन जाता है। यह है अणुप्रत भायना की शृष्ट-भूमि। इसलिये निवृत्ति या पदार्थ-निरपेक्ष उद्यम की भूमिका पर चलने वाला अणुप्रत-आन्दोलन नकारात्मक हो— यह स्वामादिक है।

प्रवृत्ति जीवन की बिबराता का पञ्च है और निवृत्ति शुद्धि का। प्रवृत्ति में शुद्धि की जितनी मात्रा होती है वह निवृत्तिप्रवृत्त हाती है। हिंसा के साथ अहिंसा की मात्रा म रहे तो यह एक अणु में बिश्य को मम्म कर डाले। निवृत्ति के विकास का अर्थ यह है कि अहिंसा की मात्रा बढ़े। इसलिये प्रवृत्ति के क्षेत्र में संयमी व्यक्ति नकार की भाषा में ही बोल सकता है।

प्रवृत्ति का कर्मक्षेत्र सामाजिक जीवन है या यूँ कहना चाहिये समाज के लौकिक जीवन का मापदण्ड है, वह प्रवृत्ति का कर्मक्षेत्र है। मूठिये मत, हिंसा और अहिंसा के लिये समाज का कोई शृयक-शृयक निर्बांषित क्षेत्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति हिंसा

और अहिंसा की आधार शिखा है। किन्तु दोनों का स्वरूप एक नहीं है। सूक्ष्म-दृष्टि में आधार भी एक नहीं है। व्यक्ति की जो वृत्ति अहिंसा है वही हिंसा और जो हिंसा है वही अहिंसा नहीं बनती। किन्तु स्पष्ट-दृष्टि से दोनों वृत्तियाँ एक ही व्यक्ति में बनती हैं, इसलिये हम एक ही व्यक्ति को उन दोनों का आधार मान लेते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है— 'जीवन का लौकिक पक्ष कैसे रहे'—यह शिक्षा-क्षेत्र समाज के लौकिक पक्ष के स्वरूप व्यक्तियों का है। समाज का लौकोत्तर या आत्मिक-पक्ष कैसा हो ? यह वायित्व संयमी साधकों का है। संयमी—असंयमी की प्रवृत्ति का विधान करे—यह उसकी मर्यादा नहीं। उसकी मर्यादा है—प्रवृत्ति में या असंयम की मात्रा बढ़े, अनावश्यक हिंसा बढ़े, उसे रोकने के लिये समाज को संयम की माँगना है। आवश्यक हिंसा बढ़ने का प्रश्न ही नहीं पड़ता। वह जीवन की अत्यावश्यकता के कारण छूट नहीं सकती तो बढ़ भी नहीं सकती। जो बढ़ती है, वह फिर आवश्यक हिंसा नहीं रहती, वह अनावश्यक हिंसा हो जाती है।

मित्र को न मारे, अहिंसा यही नहीं। उसकी मर्यादा में शत्रु की कल्पना है कहाँ ? जहाँ शत्रु की कल्पना है, वहाँ अहिंसा कैसी ? इसलिये किसी को न मारे, यह अहिंसा है। समाज इनका समर्थन बन जाय तो बात ही क्या ? फिर कोई समस्या नहीं। ऐसी स्थिति नहीं बनती है, तब तक आक्रमण

अहिंसा-शक्ति से विफल नहीं किया जा सकता। तब हिंसा चली है, यह है विरोधी हिंसा या प्रत्याक्रमण की हिंसा। यह आवश्यक मानी जाती है, इसलिये क्या समय की परिधि में उसे स्वीकारोक्ति मिले ? नहीं। यह सत्य से परे है। संयम की भाषा यह होगी—जिस हिंसा के त्याग को तुम असम्भव मानते हो, उससे नहीं बच सकते तो कम से कम उस हिंसा से तो बचकर बचो जिसे त्यागना तुम्हारे लिए सम्भव है। सम्भव है साधना बढ़ते-बढ़ते असम्भव बननेवाली अहिंसा भी सम्भव बन जाय। कोई समाज उपयोगिता की दृष्टि से ध्यात्र को न्याय मानता है, उसे न छोड़ सके तो कम से कम निर्धारित दर से अधिक ध्यात्र तो न ले।

न्याय और अन्याय की परिभाषा आत्मिक नहीं है। यह समाज की सामयिक आवश्यकता से फूट पड़ने वाली व्यवस्था है। अहिंसा की भूमिका में संप्रह-मात्र अवैध है। छौकिक पक्ष सर्व-असंप्रह को स्वीकार नहीं करता। अति-संप्रह भी उसके हित में नहीं। इसलिये वहाँ संप्रह के स्रोत दो रूप लेते हैं—बैध और अबैध। अपनी आजीविका न रूके और दूसरे की न टूट, यह बैध और उससे जा विपरीत चले यह अबैध। लोग इस भावना को मूल्य जाते हैं, ध्यात्रोह में फर्म अबैध म्यात द्वारा घन टानना चाहते हैं, तब समय की नकार ध्यनि उठती है—कम से कम अबैध को ता त्यागो। यूँ नकार की भाषा एक मर्यादा है, जो प्रवृत्ति का नियमन करती है।

अणुप्रव-आन्दोलन की नियमावली में केवल नियम है। लोग कहते हैं—यह क्या ?—‘मत करो, मत करो’ यही क्यों ? ‘यह करो’, यह भी तो आमा चाहिए। असयम की मापा में ‘येसे करो’ यही मिलता है। अणुप्रव की मापा संयम की मापा है। इसलिए इसमें ‘मत करो’ यही मुख्य है। ‘मत करो’ के पीछे साधना का बल चाहिए। इसलिए यह प्रेरणा-सापेक्ष है। ‘करो’ इस प्रेरणा की कोई अपेक्षा नहीं। जो आवश्यकता है, वह अपने आप प्रवृत्ति करायेगी। ‘मत करो’ यह सहज आवश्यक प्रतीत नहीं होता। इसलिए इस पर अधिक शक्ति उठाने की अपेक्षा है।

‘करो’ इसमें कार्य-विधि के औचित्य की अपेक्षा होती है। किन्तु संयम अपनी भूमिका से हटकर असंयम के औचित्य का विधान कर नहीं सकता। संयम की दृष्टि में असंयम का औचित्य—असंयम की दृष्टि से भले ही औचित्य हो—औचित्य नहीं है। असंयम के अनौचित्य और औचित्य में संयम को मात्रा भेद स्वीकार्य है किन्तु हमका स्वरूप भेद होता है। संयम केवल असंयम की अनियमितता को नियमित कर सकता है। किन्तु उसके साथ समझौता नहीं कर सकता—वशास्त्र नहीं बन सकता।

मकार की मापा में नैराश्य है और इससे लौकिक अभ्युदय में बाधा आती है, यह प्रश्न तक-संगत नहीं और इसलिए नहीं कि मकार का स्वरूप और कार्य एक है, फिर भी उसकी मात्रा

एक नहीं है। पृथक्-पृथक् मूमिकाओं में इसकी पृथक्-पृथक् मात्रा होती है। व्यक्ति की मूमिका, परिवार की मूमिका, समाज की मूमिका और राष्ट्र की मूमिका—ये कुछ मूमिकाएँ हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की सीमा में जितना स्वतन्त्र है उतना परिवार में नहीं। समाज की सीमा में सबसे अधिक और राष्ट्र की सीमा में उससे भी अधिक परतन्त्र बन जाता है। जो व्यक्ति फेयल व्यक्ति ही नहीं पारिवारिक भी है, सामाजिक भी है और राष्ट्रीय भी है वह परिवार, समाज और राष्ट्र की उपेक्षा कर नहीं सकता। यानी उनकी उपेक्षा कर व्यक्ति-व्यक्ति रह सकता है, सामाजिक और राष्ट्रीय नहीं रह सकता। इसलिये इन मूमिकाओं में नकार की मात्रा अलग-अलग होती है। जैसे एक व्यक्ति प्रतिज्ञा लेता है—जहाँ तक अपना प्रश्न है, मैं युद्ध नहीं छड़ूंगा, राष्ट्रीय आवश्यकता होगी तो मैं यह छोड़ूंगा। व्यक्तिगत समय का राष्ट्रीय मूमिका में नहीं रखा जाता, इसका अर्थ यह है—वह राष्ट्र की व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। एक संयमी या साधक है, वह किसी भी दशा में नहीं छोड़ सकता क्योंकि उसकी मूमिका कुछ और है। सही अर्थ में मूमिका के अनुरूप नियम के द्वारा लौकिक अभ्युदय में कोई बाधा आती नहीं। और जो लौकिक अभ्युदय की अमीम रूपना है वह पूरी न हो तो कुछ आपत्ति जैसी बात नहीं लगती। जो संयम को न मान कर चले और साम्राज्य-विस्तार, जाति विस्तार और पदार्थ विस्तार करके अधिक मुगरी बने, ऐसा तो नहीं दीयता।

जो लोग आवश्यकता की पूर्ति को सीमातिरेक मूल्य देते हैं, उनकी दृष्टि में अनुभव-आन्दोलन स्वयं ही और ही भी तो पदार्थ-निरपेक्ष है। इसलिये सामाजिक व्यक्ति आवश्यकता का मूल्य छोड़ नहीं सकता किन्तु श्रद्धि का मूल्य उसके लिये उससे कहीं अधिक होना चाहिए। यह समझ कर चले, उसके लिये यह सबसे अधिक मूल्यवान् है।

समाज में हिंसा और अहिंसा ये दोनों तत्त्व रहते हैं। कोई भी समाज पूरा अहिंसक नहीं बनता तो पूरा हिंसक भी नहीं बनता। हिंसक और अहिंसक समाज की जो कल्पना है, उसका आधार समाज का दृष्टि बिन्दु है। जो समाज जीवन की आवश्यकता पूर्ति को ही मुख्य और समकी श्रद्धि को गौण मानकर चले—यह हिंसा की ओर गति है। आवश्यकता पूर्ति की भाँति—श्रद्धि या साधन के नियमन को भी जो अनिर्धार्य मानकर चले, वह समाज अहिंसक है। अनुभव-आन्दोलन की इस अर्थ में अहिंसक समाज-रचना की कल्पना है।

लोग मानते हैं—समाज में दुरचरित्र प्रतिभूत परिस्थितियों के कारण बढ़ता है। कुछ अर्थों में यह ठीक भी है। किन्तु दुरचरित्र-श्रद्धि का यही एकमात्र हेतु है, यह नहीं माना जा सकता। मनुष्य की वासनाएँ और सत्कार परिस्थितियों से अधिक प्रबल कारण हैं। अनुभव-आन्दोलन की दृष्टि यह है कि संस्कारों पर विजय की जाय।

सयम या त्याग का दूसरा पहलू और है। परिस्थितियाँ अनुकूल हों, जीवन की चालना के साधन यथेष्ट प्रमाण में सुलभ हों, वहाँ भी सयम आवश्यक होता है। इसलिये होता है कि जीवन विस्थासी न बने। अभाव में जैसे सप्ताहक वृत्तिजन्य दुश्चरित्र अति मात्रा में बढ़ता है, वैसे भाव में विद्यासजन्य दुश्चरित्र की मात्रा बढ़ती है। इसलिये सयम की अपेक्षा दोनों में समान है। इसलिये इस आन्दोलन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो सकता है। जीवन बले, उसके लिए जैसा व्यावहारिक या क्रियात्मक पक्ष आवश्यक है, वैसे ही जीवन में अशुद्धि की मात्रा न बढ़े, इसके लिए हममें पारमार्थिक या अक्रियात्मक पक्ष भी आवश्यक है। अशुद्ध-आन्दोलन उसका महान् प्रतीक है।

क्या अणुव्रत रचनात्मक है ?

इस भाषे शतक से 'रचनात्मक' शब्द का आसन सबसे आगे बिछा हुआ है। उस प्रयत्न का आज कोई मूल्य नहीं आँका जाता, जो रचनात्मक न हो। अणुव्रत आन्दोलन का मूल्य आँकनेवाले कहते हैं—यह बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है। कुछ लोग अणुव्रत को इसलिये मूल्यवान् नहीं मानते कि यह 'रचनात्मक' कार्य नहीं है। इसके साथ कोई रचनात्मक प्रयत्न जुड़ी हुई नहीं है। आतिर काय का मूल्यवान् होना 'रचनात्मकता' पर निर्भर है। अणुव्रत-आन्दोलन रचनात्मक है या नहीं ? यह बड़ा सटिष्ठ प्रश्न है। किन्तु 'रचनात्मक' हुए बिना आज इसकी गति भी नहीं हो सकती। यह 'रचनात्मक' है तो अच्छी बात है। अगर वैसा नहीं है तो इसके सफलकों को इसे वैसा बनाने के लिये जी-जान से जुट जाना होगा।

इस मतव गति और विद्यारील जगत् में 'अरचनात्मक' भी बुद्ध है, यह नहीं माना जा सकता; किन्तु यह दार्शनिक बात

है। जमाना बर्दान से दो कदम आगे बढ़ चुका है। आज के लोग केवल देखना व जानना नहीं चाहते, वे बदलना चाहते हैं। परिवर्तित युग का सत्य भी नया होता है। आज का 'रचनात्मक' दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य भ्रम करे, भ्रम के द्वारा कमाई हुई वस्तु को भोगे। दूसरों के भ्रम पर न जिए, आलसी बन बैठा न रहे, मूल्यांकन की दृष्टि को बदले, भ्रमिक को छोटा न माने, अपनी जस्ूरतों को पूरा करने के लिए स्वयं बुद्ध-न-बुद्ध पैदा करे। इस दृष्टिकोण की तुलना में पिछला जमाना अवरय अरचनात्मक रहा है।

क्रमभूमि के आदिकाल में मनुष्य भ्रमिक था। आगे चल कर भ्रम विमुक्त हो खड़ा। समाज संगठित हुआ। बुद्धिवाद पढ़ा, साधन बढ़े, मान और अपमान की धारणाएँ बनीं। अनुपयागी वस्तुओं में मूल्य का आराप हुआ और मनुष्य ने अपने सहज-भाव से मुँह माड़ लिया। संक्षेप में कहा जा सकता है—समाजीकरण या संगठनात्मक स्थिति ने मनुष्य को स्वभाष विमुक्त बना दिया। यह भ्रम से अभ्रम की ओर जाने का इतिहास है।

समाजीकरण के अभाव में बुद्धि का वाद नहीं होता। ज्ञान आत्मा का सहज घम है। पौद्धिक विकास का क्रम स्पर्श पर आधारित है। स्पर्श की भूमि समाज है। हमने बुद्धि को पढ़ाया, बुद्धि ने भाषनों का विस्तार किया। भ्रम एक है, व्यास एक है, किन्तु वन्दे मिटाने के लिए आज अनगिनत

साधन है। भाषन-सामग्री ने मनुष्य को छुटपन और बढ़प्पन में बाँट दिया, जिसे साधन अधिक सुखम हो, बड़ छोटा। बड़ा बननेवाला पूजा पाने लगा और छोटा उसे पूजने लगा। इस कृत्रिम भेद से अनावश्यक वस्तुओं में कृत्रिम मूल्य का आरोप हुआ। ग्यान-पान के छिग अनुपयोगी वस्तुएँ मूल्यवाम् बन गईं। मनुष्य का मोह शृङ्गार से जुड़ गया। मोह की आँसू से मनुष्य ने देखा—काम करना छोटी बात है। यह मम से अभ्रम की आर शुरुक गया। 'रचनात्मक' युग समाप्त हो चला।

रचनात्मक और अरचनात्मक ये दोनों एक ही पहिये के दो सिरे हैं। एक ऊपर उठता है, दूसरा नीचे चला जाता है; दूसरा ऊपर आता है, पहला नीचे चला जाता है। ये दोनों मिल दुनियाँ की गाड़ी का आगे धकेल रहे हैं।

मनुष्य का महज भाव है कि यह अपने जमाने को सबोत्कृष्ट देखना चाहता है। जमाना अपनी गति से चलता है। उसमें कारण-कार्य की नियत परम्पराएँ प्रतिक्रिस्त होती हैं। आज जो 'अरचनात्मकता' का जमाना है, वह समाप्तीकरण और उसकी छत्रजाया में पड़नेवासी मिथ्या धारणाओं का परिणाम है। जब कभी रचनारमक युग आगा, वह मामूलीकरण और हमके पन्ते पड़ी मिथ्या धारणाओं के विपटन का परिणाम होगा।

मनुष्य में परिणाम के प्रति जो अभिसाया होती है, वह कारण के प्रति नहीं होती। वह स्वग चाहता है, स्वर्ग की साधना

नहीं चाहता। आज बहुत लोग चाहते हैं मिथ्या धारणाएँ दूट जायँ, कृत्रिम भेद-रेखाएँ मिट जायँ, सब ममान हो जायँ और आत्मनिर्भर बन जायँ। यह परिणाम की चाह तीव्र हो रही है। कारण की चाह बहुत ही क्षीण है।

समाजीकरण इतना हो रहा है कि व्यक्ति कोरा पन्त्र रह गया है। वैयक्तिकता की यात कोई मुनना ही नहीं चाहता। व्यक्ति का समाज से भिन्न जैसे अस्तित्व ही न हो, जैसे वह अफड़ा जा चुका है। क्या यह सही हुआ है ? सामूहिकता सहज अनुभूति नहीं है। वह कुछेक के दिळ में विचारों से पनपी है और बहुतों पर ढंढे के बल से थोपी गई है। आज का समाजवाद व्यक्तिवाद के विकृत स्वरूप की प्रतिक्रिया है। वह मनुष्यों के भौतिक हितों के स्तर को समतल बनाने में सफल भी हुआ है; किन्तु वह अब भी परिणाम की घुरी के आसपास घूम रहा है, कारण की खोज बहुत दूर है। व्यक्तियों और वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आवश्यकता पूर्ति की चिन्ता का भार कम भी हुआ है, किन्तु मानवीय दुपलता का प्रतिकार नहीं हो सका। मान व अपमान, धोना और बढ़ा दाने की वृत्ति सामूहिकरण की तीव्र प्रतिक्रिया हो सफ़्ती है। उत्पादन बढ़ा है, भ्रम का मूल्य बढ़ा है; किन्तु हमका आधार है—पदार्थ और समाज। यह सारा परिणामवाद है। हममें रचनात्मकता के अभाव की प्रतिकार शक्ति नहीं है।

अणुगत आन्दोलन को 'अरचनात्मक' कहने में मुझे जरा

मी द्विषक नहीं होती। परिस्थितियों के भार से मनुष्य को रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर ले जानेवाला बाध व नीचि छानिक उपचार है। वह मानव-स्वभाव का परिवर्तन नहीं है। मानव का स्वभाव (कहना चाहिए विभाव लेकिन वही आज स्वभाव जैसा हो रहा है) असंयम में रम रहा है, पदार्थ पर टिका हुआ है। अणुत्रव-आन्दोलन का दृश्य नया मोड़ घेना है। उसे अपने आप में टिका संयम में रमाना है। समस्या का स्थायी समाधान संयम है। मोह इतना बढ़ गया कि संयम की शोध कठिन हो रही है। व्यक्ति अकेला आता है और वैसा का वैसा चला जाता है। वह जीवन भर सम्बन्धों की जोड़ तोड़ में रहता है। जानकारी का उपयोग कम में नहीं हो रहा है, यही मोह है। धुर-भले को जान लेना ज्ञान-मात्र है बढ़ी बात है धुराश्यों का छाड़ भसाई के रास्ते चलना। इसमें वाधा खालन याका मोह है। मोह और असंयम एक ही स्वभाव की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। पदार्थ से मोह हटते ही संयम आ जाता है अथवा संयम जागते ही पदार्थ का मोह टूट जाता है। निर्मोदता ही संयम है। राजनीति के सारे धाद पदार्थ-माह से जुड़े हुए हैं। मनुष्य-मनुष्य में मोह व्याप्त है। इसीलिए वे सहजतया उनके गने ठगर जाते हैं। बात स्पष्ट है। जहाँ तक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न है वहाँ तक उनसे हमारा मगाड़ा भी क्या है ? रोटी की व्यवस्था जीवन का सामान्य प्रश्न है। उसे कौन कैसे हल करता है, इसे हम

महत्व ही क्यों दें ? हमें महत्व इसे देना चाहिए कि पदार्थ पर किमकी कैसी निष्ठा है ? पदार्थ की निष्ठा में कमी आ सके, उसी में समय के आन्दोलन की मफलता है।

गरीबी का निराकरण य रोटी का प्रश्न समाजवाद, साम्यवाद य सर्वोदय से सुझाता है, इसके आधार पर हम पाटे-नके को कूतना नहीं चाहते हैं। हमारी कूत का आधार यह है कि मानव-समाज में कौन कितना परिवर्तन लाता है, समय के मूल्यांकन में कौन कैसी प्रतिक्रिया पैदा करता है। सत्ता और शक्ति पर आधारित वाद समय के विकास को गति नहीं देते। मटे फिर से एक बार लोगों को मुलावे में डाल दें। अशुभ आन्दोलन पदार्थ की सुविधा के साथ-साथ संयम की ओर बढ़ने की दिशा नहीं है। समय के स्वतन्त्र मूल्यांकन और विकास की दिशा है। दूरियों को पदार्थ की सुविधा मिले, इसलिये समय करना उसका अवमूल्यन करना है। समय का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। यह जीवन की पवित्रता के लिए किया जाय। पवित्रता के साथ वैयक्तिकता का विकास हो जाता है। उसके विकास में माधनों की अपेक्षा स्वल्प हो जाती है। आवश्यकता-पूर्ति के माधनों की दुनियाँ में झोटे-पड़ेपन का भाव विकसित नहीं होता। बढ़ते-बढ़ते आए बिना झूठे मूल्यों का आरोपण नहीं होगा यह 'रचनात्मक' युग के निर्माण की मही दिशा है।

रचनात्मक आन्दोलन बहुत पल रहे हैं। य जीवन की

सुत्र-सुविधा के कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। प्राथमिक कठिनाइयों के निवारण की दिशा देते हैं। अणुप्रत्यक्ष-आन्दोलन के पास ऐमा सीधा कोई कार्यक्रम नहीं है, फिर भी इस एक अरचनात्मक आन्दोलन को इमार भाई सहन कर सें वो कोई बहुत बड़ा हर्ज होने बाळा नहीं दीकता।

प्रश्न रह-रह कर यही उठता है क्या कोरे संयम का आन्दोलन सफल हो सकेगा ? इसके लिए आप निश्चित हो जाइए। भलाई की एक रेखा भी विकल नहीं होती। यह पदार्थ नहीं है, जिसकी सफ़लता व विकास सफ़या से मापा जाए। अर्थकार में प्रकाश की एक रेखा भी पथ दिव्या मचती है। अणुप्रती यही हागा, जिसे पदार्थ का तीव्र मोह नहीं है। चीत्र मोह से संप्रह और संप्रह के जिय हिंसा की जाती है। अणुप्रती का माग अहिंसा प्रधान होगा। अल्प हिंसा, अल्प उद्योग एव अल्प परिग्रह के जीवन में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ स्वयं सुदृ जाती हैं। दूमरों के भ्रम पर बही जी मचता है, जो महाहिंसा महाउत्साह और महापरिग्रह का जीवन जीए। एसा व्यक्ति सफल अणुप्रती हो नहीं सचता। रचनात्मक-प्रवृत्तियों से संयम की आर मुकाब हा भी सचता है और नहीं भी हावा। संयम के पीछे म्यापलम्बन और आत्म निमगता अपने-आप जाती है। ज्यों ज्यों संयम का बिकाम हाता है, त्यो-त्यो आत्म निमगता बढ़ती जाती है। माधना-क्रम के अनुसार एकर-

जिनफल्य की कक्षा है, उसके अधिकारी सारा काम अपने हाथों करते हैं। बाहरी वस्तुओं से उनका लगाव बहुत ही कम होता है। हममें सन्देह नहीं कि संयम ही सारी समस्याओं का समाधान है, मले फिर यह प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से। यह स्वयं मले अरचनात्मक हो किन्तु रचनात्मकता हमी के आसपास फलती-फूलती है। इसीलिए हमें कोरी रचनात्मक प्रवृत्ति का मोह छोड़ कुछ अरचनात्मकता को भी गति धनी चाहिए।

प्रतिरोधात्मक शक्ति की साधना

एत इच्छा का स्वेच्छाकृत नियमन है। इसलिये यह एक विशिष्ट साधना है। यह सहज प्रवृत्ति पर बंधुता है। प्रतिरोधात्मक शक्ति की अपेक्षा समाज में विधेयात्मक शक्ति अधिक होती है। व्यक्ति जितना करता है, उतना नियन्त्रण नहीं रख पाता। प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास कम मात्रा में होता है, सभी प्रवृत्तियाँ बुरी बनती हैं। अक्सर सुनने को मिळता है—अणुप्रथ-आन्दोलन के प्रथ नकारात्मक हैं—'निगेटिव' हैं। इनमें विधेयात्मक नहीं जैसा है—'पोजिटिव' पक्ष नहीं जैसा है। आलोचना सही है। इसमें प्रथ-परम्परा के हानि का इतिहास बोल रहा है। नकारात्मक शक्ति का महत्व प्रकार में नहीं आ रहा है इसीलिए यह आलोचना होती है और इसीलिये ये घुराइयाँ चलती हैं। हिंसा, भूठ खोरी, विषाम या अग्नि-शोष और समग्र ये पाँच घुराई के प्रकार हैं। शोष घुराइयाँ इन्दी की छोटी-बड़ी शाखाएँ हैं।

कोई व्यक्ति झूठ क्यों बनता है? अमुशामनहीन क्यों बनता है? अमत्य क्यों बोलता है? खोरी क्यों करता है? विषामी क्यों बनता है? समग्र क्यों करता है? इनके तथ्यों को शोधिये। ये सब परिस्थिति की बिचराता से नहीं होते। वह एक स्वच्छ निमित्त है। मूठ कारण व्यक्ति की प्रतिरोध या नियन्त्रण शक्ति का अभाव है। समाज की क्रियात्मक शक्ति अति विकसित है। प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध-न-बुद्ध करता है।

आवश्यक भी करता है और अनावश्यक भी। उपयोगी भी करता है और अनुपयोगी भी। अच्छा भी करता है और बुरा भी। बिश्वास भी है—आराम से जीवन विताने की वृत्ति भी है। आसुर्य भी है—कुद भी क्रिये विमा सब कुद पा जाने की भावना भी है। जिस व्यक्ति या समाज में नियन्त्रण या निरोध शक्ति का उचित मात्रा में विकास होता है, यह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा ही कार्य करता है। जिनमें निरोध शक्ति का विकास औचित्य से अल्प होता है, यह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा कार्य करने के साथ-साथ अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा कार्य भी कर लेते हैं। जिनमें निरोध शक्ति नहीं होती, वे अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरे कार्यों में ही रम लेते हैं। इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति विज्ञानी, आसुर्य, पद और लुटेरे होते हैं।

रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाज को उन्नत घरातल पर ले जानेवाले यह न भूल कि प्रतिरोध शक्ति का विकास हुए बिना बेसा होना सम्भव नहीं है। निषेध जीवन का शुद्धि पक्ष है। विधि (कार्य) का अति-पक्ष^१ या अबांछनीय पक्ष इमी के^२ अभाव में बलवान् बनता है। निषेध की शारबत-मत्यता तफ मनोबिज्ञान अभी नहीं पहुँच पाया है। इसीलिये केवल रचनात्मक पक्ष को ही पकांगी महत्व दिया जा रहा है। रचना-

१—यह पक्ष जिसकी कोई सीमा न हो।

२—निषेध के अभाव में।

स्वक प्रवृत्तियों के लिये अभ्यास या साधना आवश्यक नहीं होती। ये जीवन की महज अपेक्षाएँ हैं। उनकी शिक्षा भी सभी आवश्यक होती है, जबकि समाज स्व नियन्त्रण की बात भूल जाता है। स्व नियन्त्रण से मिलता कुछ भी नहीं, कुछ धनता भी नहीं, किन्तु यह सब व्यथाइयों की जड़ है, इसीलिये इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्रों में नैतिकता की ऊँची भावना है उनमें आत्म-नियन्त्रण का भाव भी विकसित है। वे कठिन स्थिति को झुलने के लिये अपने पर कामू पा सकते हैं। कठिमाइ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निराधक शक्ति वाले बिना चपराये उसे झोप सकते हैं और या निरोधक-गच्छिहीन हाते हैं, वे उसमें डूब सकते हैं। अधिकारा मानसिक रोग और बहुत सारे शारीरिक रोग इसी निराधक-शक्ति की कमी के कारण हाते हैं। आत्म-इत्याशों का भी बड़ी प्रभाव कारण है, और भी अनक पुराशयों इसी के अभाव में बनपती है। इसलिये अपुत्रत-आन्दोहन न इस मूलमूल तथ्य को पकड़ा है। हमके छगमग सारे एक व्यक्ति का निराधक शक्ति की साधना की आर से जाते हैं। उनका हाइ—मत करो-मत कमो इतना ही नहीं है किन्तु “मत करा” इसके पीछे निबन्धन शक्ति की बिराट साधना या द्विपी हुई है, साध्य बह है। अधुन मत करा—यह सभी साधना के संकेत साधन हैं। जो व्यक्ति के मद्बिषेक और मलाई की मौलिक बलि का आगरण बिय देते हैं। य एक केयत प्रतिरोध

शक्ति के विकास की ओर ले जानेवाली दिशाएँ हैं। प्रती बनने वाले इन्हें ही साम्य मानकर न रुक। आलोचना करनेवाले साम्य के याहरी रूप में ही न उलझें। दोनों (प्रती और आलोचक) आगे बढ़ें। साम्य की विराट् सत्ता को देखें। वहाँ उन्हें वह सत्य दिखाई देगा, जो स्पष्ट होते हुए भी धर्मियों से परे है और जिसका अभ्यास समाज-धारणा, राष्ट्र धारणा और मोक्ष धारणा, सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध शक्ति कम हुई है। उसके अभाव में घुराईयाँ अधिक बनपी हुई हैं। इसलिये कुद्व मठ करो, जो करो उसमें अनावश्यक, अनुपयोगी और घुरा मठ करो—यह निषेध पत्र निष्क्रियता या अकर्मण्यता सा छग रहा है, पर यह अकर्मण्यता नहीं, कर्मण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक पोषक और लुटेरा भी कर्मण्य ही सकता है और हाता भी है किन्तु यह अनियंत्रित और अपरिष्कृत कर्मण्यता है। कर्मण्यता का परिष्कार नियंत्रण से ही हो सकता है। समाज उसे मुखाये हुए है। इसीलिये वह कठार कार्य छग रही है। उसकी साधना भी उम्या समय ले सकती है, भूलें भी बहुत हो सकती हैं। घुराई भी महसा नहीं आती। उसका भी क्रमिक विकास होता है। जैसा कि आषायत्री ने कहा है—“पहले-पहल घुराई करते घृणा हाती है। दूसरी बार सहाय हाता है। तीसरी बार संशोधन मित् जाता है। चौथी बार साहस बढ़ जाता है और फिर वह सहज बन जाती है।” यह घुरी प्रवृत्ति का अभ्यास-क्रम है। उसके साकार पकन में पीढ़ियाँ

गुधर जाती हैं। भस्माह के लिए भी यही प्रथम है। भले सस्कार दिनों, महीनों या वर्षों में ही एक-रस नहीं बन जाते। उसके परिणाम और मूल प्रवृत्तियाँ साँ और अधिक उम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिर्फ समाज के बाड़े आवसी ही भागे जाते हैं फिर प्रयत्न होते-होते वह समाज-व्यापी बन जाता है, सहज भाव से आत्मसात् हो जाता है। इसलिये अस्परसता की बात आन्दोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि वह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ एक-रस होने की सम्भावनाएँ इसमें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कर्तव्य सार्वदशिक और सायकालिक दात है। जर्मन दारानिक कान्ट ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित श्रेण और अनिश्चित श्रेण—इन प्रकार दो भागों में बाँटा है। जो अनिवार्य आदत है, वह निश्चित श्रेण-कर्तव्य है। अधिकतर ये कर्तव्य निषेधात्मक होते हैं अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विषेधात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सार्वकालिक और सार्व-देशीय होते हैं और विषेधात्मक इनके विपरीत होते हैं अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतएव उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आन्दोलन के प्रथम निश्चित कर्तव्य की भूमिका के हैं, इसीलिये उनका स्वरूप अधिकतर निषेधात्मक है।

तीसरा अध्याय



लक्ष्य की ओर

जीवन का ध्येय

जीवन का सर्वोपरि ध्येय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर एक नहीं होता। परमात्म पद, मोक्ष या चरम विक्राम की ओर जीवन की महज गति है—एसा एक अभिमत है। दूसरा अभिमत इतना आगे नहीं जाता। वह इसी जीवन की समाप्ति को विक्राम का अन्तिम चरण मानता है। इस प्रकार सर्वोपरि ध्येय के धारे में एक मत नहीं दीक्षता। अणुशून्य-आन्दोलन सर्व साधारण है। पवित्रता की आधिरा मजिठ को फोड़ माने या न माने, यहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न करे या न करे किन्तु पवित्रता की पहली मजिठ सबके लिये समान है। उसके ध्येय में मले ही थोड़ा बहुत अन्तर ही परन्तु न्यूनतम पवित्रता की साधना में द्वेष नहीं हो सकता। अणुशून्य की साधना जीवन-पवित्रता की पहली मजिठ है। पर उसकी दृष्टि यही तक सीमित नहीं है, बढ़ और आगे बढ़ती है। अन्याय, असत्य, हिंसा, उत्पीड़न और शोषण आदि अनुचित साधनों के द्वारा पदार्थ समग्र म चरन की बात पवित्रता का पदसा चरण है।

सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्ति

सुख-दुःख की अनुभूति व्यक्ति की अपनी होती है। उनके साधन सामूहिक हो सकते हैं पर वे व्यक्ति के 'स्व' नहीं, उसे प्रभावित करते हैं किन्तु उससे भिन्न होते हैं।

सुख-दुःख निरन्तर अपनी मान्यता ही हैं, ऐसा तो नहीं है। सुख आत्मा का सहज गुण है, दुःख भ्रम, अज्ञान, व्यामोह से पैदा होता है। तात्पर्य-दुःख अपना 'स्व' नहीं किन्तु वह प्रमादकृत है। भगवान् महावीर के शब्दों में— 'प्राणी दुःख से घबराते हैं और दुःख स्वच्छ है।' जो सहज सुख नहीं, सुख की कल्पना या बेकारिक सुखानुभूति है, वह भी आत्म-दुःख होता है। सहज सुख के सिवाय सुख और दुःख जो हैं, वे साधन-सापेक्ष हैं। रोटी के पिना दुःख होता है और उसके मिलने पर सुख।

धरना पूँ चाहिये कि सुख-दुःख की वेदना का मूल भाव-अभाव और संयोग विषाग है। इष्ट का भाव और अनिष्ट का अभाव सुख का निमित्त बनता है। अनिष्ट का भाव और और इष्ट का अभाव दुःख का।

अध्यात्म-दृष्टि का दूसरा चरण न्याय के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना है। अधिक संग्रह के रहते हुए पवित्रता बढ़ नहीं सकती, शान्ति का रूप ले नहीं सकती इसलिये उचित साधनों के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना इसका दूसरा अंग है। इस प्रकार इसका क्रम सीमित बनते-बनते जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की रस्साओं तक पहुँच जाता है। यहाँ वासना की तीव्र आकांक्षा पुछ जाती है, आवश्यकता की बढ़ आकांक्षा शेष रहती है। यहाँ जीवन-ध्येय की साधना भी सफल बन जाती है। आत्मिक-ध्येय की साधना, जो जीवनान्तर में भी संक्रान्त होती है, में आवश्यकता की मंज आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिये। जीवन-ध्येय आत्मिक ध्येय की गहराई तक नहीं पहुँचता। जीवन ध्येय की साधना शरीर-बाणी और मन की तीव्र आसक्ति मिटा, उन्हें पवित्र करने की है। आत्मिक ध्येय की साधना शरीर, वाणी और मन को मित्रा देने की है। जीवन के पवित्रीकरण की साधना आत्मा के पवित्रीकरण की साधना का ही सूक्ष्म अंश है इसलिये इसकी आराधना सूक्ष्म तक पहुँचने बाह्यों के लिये पहले सोपान के रूप में और सूक्ष्म की चर्चा में न जानेबाह्यों के लिये निर्पिकल्प रूप में हो—यह आवश्यक है।

सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्ति

सुख-दुःख की अनुभूति व्यक्ति की अपनी होती है। उनके साधन सामूहिक हो सकते हैं पर वे व्यक्ति के 'स्व' नहीं, उसे प्रभावित करते हैं किन्तु उससे भिन्न होते हैं।

सुख-दुःख निरन्तर अपनी मान्यता ही है, ऐसा तो नहीं है। सुख आत्मा का सहज गुण है, दुःख भ्रम, अज्ञान, ज्यामोह से पैदा होता है। तात्पर्य-दुःख अपना 'स्व' नहीं किन्तु वह प्रमादकृत है। भगवान् महावीर के शब्दों में— 'प्राणी दुःख से घबराते हैं और दुःख स्वकृत है।' जो सहज सुख नहीं, सुख की फल्पना या वैकारिक सुखानुभूति है, वह भी आत्म-कृत होता है। सहज सुख के सिवाय सुख और दुःख जो हैं, वे साधन-सापेक्ष हैं। रोटी के पिना दुःख होता है और उसके मिलने पर सुगम।

कहना मैं चाहिये कि सुख-दुःख की वेदना का मूल भाव-अभाव और सयोग वियोग है। इष्ट का भाव और अनिष्ट का अभाव सुख का निमित्त बनता है। अनिष्ट का भाव और और इष्ट का अभाव दुःख का।

अणुप्रत-दृष्टि का दूसरा वर्ण न्याय के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना है। अधिक संग्रह के रहते हुए पवित्रता बढ़ नहीं सकती, शान्ति का रूप ले नहीं सकती इसलिए उचित साधनों के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना इसका दूसरा अंग है। इस प्रकार इसका काम सीमित बनते-बनते जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की रेखाओं तक पहुँच जाता है। यहाँ वासना की तीव्र आकांक्षा कुछ जाती है, आवश्यकता की मद आकांक्षा शेष रहती है। यहाँ जीवन-ध्येय की साधना भी सफल बन जाती है। आत्मिक-ध्येय की साधना, जो जीवनान्तर में भी सक्रान्त होती है, में आवश्यकता की मद आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिये। जीवन-ध्येय आत्मिक ध्येय की गहराई तक नहीं पहुँचता। जीवन ध्येय की साधना शरीर, बायीं और मन की तीव्र आसक्ति मिटा, उन्हें पवित्र करने की है। आत्मिक ध्येय की साधना शरीर, बायीं और मन का मिटा देने की है। जीवन के पवित्रीकरण की साधना आत्मा के पवित्रीकरण की साधना का ही सूक्ष्म अंश है इसलिये इसकी आराधना सूक्ष्म तक पहुँचने वालों के दिये पहले सोपान के रूप में और सूक्ष्म की चर्चा में न जानेवालों के लिये निर्दिष्टरूप रूप में हो—यह आवश्यक है।

सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्ति

सुख-दुःख की अनुभूति व्यक्ति की अपनी होती है। उनके साधन सामूहिक हो सकते हैं पर वे व्यक्ति के 'स्व' नहीं, उसे प्रभावित करते हैं किन्तु उससे भिन्न होते हैं।

सुख-दुःख निरन्तर अपनी मान्यता ही है, ऐसा ही नहीं है। सुख आत्मा का सहज गुण है, दुःख भ्रम, अज्ञान, व्यामाह से पैदा होता है। सात्यर्ष-दुःख अपना 'स्व' नहीं किन्तु वह प्रमादकृत है। भगवाम् महावीर के शब्दों में— 'प्राणी दुःख से पराते हैं और दुःख स्वकृत है।' जो सहज सुख नहीं, सुख की फल्पना या बैकारिक सुखानुभूति है, वह भी आत्म-कृत होता है। सहज सुख के सिवाय सुख और दुःख जो हैं, वे साधन-सापेक्ष हैं। रोटी के बिना दुःख होता है और उसके मिलने पर सुख।

धरना रूँ चाहिये कि सुख-दुःख की वेदना का मूल भाव-अभाव और संयोग-वियोग है। श्रुत का भाव और अनिष्ट का अभाव सुख का निमित्त बनता है। अनिष्ट का भाव और श्रुत का अभाव दुःख का।

संघर्ष के बीच अपनी सुख-साधना की उर्वरा में बोए जाते हैं

तस्वतः सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा का भाव है, जो मान लेने पर भी उनके सर्जन का श्रेय साधन पर निर्भर होता है। कितना वाद विवाद है, वह सब साधन-सामग्री का है। अप्रिय साधन अपेक्षित नहीं पर वे आते हैं। प्रिय साधन अपेक्षित हैं पर वे सुलभ नहीं होते। कारण उनके संग्रह की स्पर्धा बढती है और वही अशान्ति या कष्ट का बीज मूल है।

सहज-सुख जन्हीं का साम्य होता है, जो आत्म विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुँच चुके। वे अपरिग्रही बन जाते हैं। बाहरी साधनों का ग्रहण उनका श्रेय नहीं होता और वे उनके द्वारा सुख प्राप्ति की पर्यन्त को भी स्वामाधिक नहीं मानते।

प्रतिशत ६६ व्यक्ति बाहरी साधनों से सपनेवाले सुख के लिए क्रियाराही हैं। वे मुग्धी बन जाते, इसलिए उनका समग्र

करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप में दूसरों को दुःखी बनाने नहीं चाहते। उनमें अपने मुक्त की वृत्ति होती है पर इस प्रक्रिया में वे दूसरों को दुःखी किये बिना रह नहीं सकते। शोषण और वापना के बिना समझ नहीं होता। समझ के बिना उन्हें मानसिक सुखानुभूति नहीं होती। स्वल्प समझ वैदिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो सकता है। वह सुखानुभूति नहीं है। आवश्यकता एक व्याधि है और पूर्ति है उसकी चिकित्सा, रोग मिटाने के लिए औषधि ली, उसमें सुख की कल्पना कौन करे ?

आवश्यकता नहीं, केवल वृत्ति मिले यहाँ सुख की कल्पना जुड़ती है। उसके लिए अतिरिक्त समझ चाहिये। वह हो तब, अपेक्षा पूर्ति का नहीं, विलासी जीवन बिताया जा सकता है। विलासी व्यक्ति अपने लिए ही देखता है, दूसरों के लिए उसकी धारें सुनी नहीं रहती। यही आफ़र झूठा, निममता और शोषण के बीज विकास पाते हैं।

सधा की आधार शिला

जीवन की दो धारारे हैं—आवरयकता और पवित्रता । आवरयकता बाहरी स्थिति पर निर्भर है और पवित्रता आन्तरिक स्थिति पर । यह सध है, भ्रम और भोग के सामान्य सन्तुलन के बिना सम स्थिति नहीं बन सकती । जब आन्तरिक स्थिति सम नहीं होती, तभी बाह्य स्थिति विषम बन जाती है । एक बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरों का शोषण कर सकता है पर करता नहीं—यह उसकी आन्तरिक स्थिति की समता है । पर कर्म या भाग्य के नियम निश्चित ही नहीं होते कि भाग्यशाही का अधिक संप्रह और विकास करना ही पड़े । अथ स्वयं का असंयम और परिस्थिति की अनुकूलता मिठ जाती है, तब यह वैसा कर बैठता है । समय का मार्ग है—प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि और भाग्य का तारतम्य होने पर भी संप्रह और विकास से बचकर पले । संयम के साधन व्यक्तिगत^१ हैं, इसलिये बाहरी स्थिति को वे प्रयत्नपूर्वक सम नहीं बनाते, किन्तु अशोषण, असंप्रह और अनासक्ति सधम का सदैव स्वरूप है, इसलिये हमके हाते स्थिति विषम बन नहीं सकती ।

आन्तरिक स्थिति सम हो जाने पर बाहरी वैषम्य नहीं पड़ता ।

कठिनाई है, वह सम कैसे बने ? अन्तर में यदि विराग आग आय तो वह वीर बन जाता है। वीर की भाषा है—“मार मके मारे नहीं ताको नाम मरव”। शोषण न कर सके वैसी स्थिति में शोषण न करे, यह एक प्रकार की परवराता है, राज-सत्ता का नियन्त्रण है। इसे मानव-स्वभाव का परियत्न नहीं कहा जा सकता। शोषण कर सके, फिर भी इसलिए न करे कि वह उसकी आत्मा को गिरानेवाला है, यह स्व-वराता है, अपने पर अपना नियन्त्रण है, सयम है। यह मानव स्वभाव का परिवर्तन है। कठिनाई एक है—सबका हृदय समान रूप से पलट आय, यह तो अस्मभव जैसी बात है। हर एक व्यक्ति में क्रोध, लोभ, मोह आदि का सार्वत्म्य टगा हुआ है, जिनमें ये कम होते हैं और जिन्हें सस्कारी वातावरण का सुयोग मिला हुआ है, उनके दिल बल्ल आते हैं, वे फिर पुराई कर सकने पर भी पुराई नहीं करते—एकान्त में भी नहीं करते, सत्ता नियन्त्रण से मुक्त होकर भी नहीं करते। वे पुरों से निर्मय होकर भी पुराइयों से भय खाते हैं।

दूसरी कोटि के वे लोग हैं, जो पुराइयों से नहीं डरते पुरों से डरते हैं, उनमें क्रोध, मोह आदि प्रबल होते हैं, इसलिए वे सबाई में आस्था नहीं रखते। उन्हें दूसरों का उत्पीड़न, शोषण और समझ करने में कोई सकोप नहीं होता। राजसत्ता एसे व्यक्तियों के लिए ही अहितत्व में आई और इन्हीं के आधार पर टिकी हुई है।

जीवन-परिवर्तन की दिशा

सामाजिक जीवन सुविधा देता है, इरांन नहीं। उसमें वर्तमान को बनाये रखने का प्रयत्न होता है, भूत और भविष्य का विस्लेषण नहीं। सामाजिक जीवन का विकास अर्थ-व्यवस्था को जन्म देता है और वह राजसत्ता का। तात्पर्य यह है कि अर्थ और सत्ता दोनों सामाजिक हैं। एक की प्रवृत्ति का फल अनेक को मिले और जो इस्तान्तरित हो सके वह वस्तु सामाजिक होती है। अर्थ और सत्ता दोनों ही ऐसी वस्तुएँ हैं। धन वैयक्तिक है। उसका फल दूसरों को नहीं मिलता और न वह इस्तान्तरित ही हो सकता है। एक हिंसा नहीं करता, चोरी नहीं करता यह धन है। उसका लाभ दूसरों का भी मिलता है। एक व्यक्ति की अहिंसकता और अनपह-रण्डा, जो अहिंसा और अचोरी के परियाम है, का लाभ उसका मिलेगा, तब धन सामाजिक क्यों नहीं, यह प्रश्न उठ सकता है किन्तु वह वस्तु-सिद्धि का अन्तिम नहीं बनाता।

एक व्यक्ति की धन साधना का लाभ दूसरों को नहीं

मिलता, इनका अनिप्राय वस्तु प्रतिदान और विनिमय से है। धर्म में प्रतिदान और विनिमय की यह शक्ति नहीं है जो जैसे में है। इसलिए यह स्वछात्र को प्रसरणशील नहीं बनाता। धर्म का प्रतिदान पौद्गलिक वस्तुएँ नहीं हैं और न दूसरों में वह विनिमित्त होता है। धर्म तब तक नहीं होता, जब तक व्यक्ति स्वयं उसकी साधना न करे। इसलिए यह वैयक्तिक है। अर्थ सामाजिक हाते हुए भी कुछ अर्थों तक वैयक्तिक होता है। जैसे ही धर्म वैयक्तिक होने पर भी कुछ अर्थों तक सामाजिक है। व्यक्ति की सतत प्रवृत्ति से समाज की आध्यात्मिक स्थिति को प्रेरणा मिलती है और उसकी निवृत्ति से समाज का अहित नहीं बढ़ता, इस प्रकार यह समाज के लिए लाभकारक है, इसलिए यह सामाजिक है।

सामाजिक कल्याण के लिये अर्थ और सत्ता ये दोनों आवश्यक माने जाते हैं, धर्म क्षेत्र में ये दोनों नहीं हैं इसलिए यह असामाजिक भी है।

धर्म स्वरूपतः सामाजिक नहीं है किन्तु यह समाज की स्थिति का प्रभावित करता है, इसलिए अर्थ और सत्ता पर उसका नियन्त्रण होता है।

एक मिट्टान्त अर्थ प्राचुर्य का है। इसके विरुद्ध दूसरी बिचारधारा अपरिमह की है। अपरिमह असामाजिक है। समाज परिमह के विना नहीं चलता।

परिमह का एकाधिपत्य भी असामाजिक है। अधिक संपद

के लिये लोग घुरे बनते हैं और अधिक संघर्ष से समाज में विकास आता है, वैपश्य फैलता है औरता बढ़ती है।

सामाजिक प्राणियों के लिये एक हीसर मार्ग की शोष हुई, वह न परिग्रह का है न अपरिग्रह का। वह है इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण। इसी मध्यम मार्ग का नाम है "अपुत्र"।

विकास जीवन में शिथिलता आता है। इसके लिये अधिक संघर्ष आवश्यक होता है। विकासी स्वयं भ्रम नहीं करता, इस लिये उसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये दूसरों से भ्रम लेना पड़ता है। भ्रम का प्रतिदान पैसा है, जो अधिक पैसा खर्च करता है, वह दूसरों से अधिक भ्रम लेता है। इस तरह दो वर्ग स्वयं बन जाते हैं। एक भ्रम लेनेवाला और दूसरा भ्रम देनेवाला। पैसे के ढेर पर भ्रम लेते-लेते व्यक्ति झूठा बन जाता है।

भ्रम देनेवाला अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिये पैसा कमाता है या उसमें इतनी बोध्यता नहीं कि वह शारीरिक भ्रम किये बिना पैसा कमा सके। इसलिये वह शारीरिक भ्रम देकर पैसा कमाता है और इसीलिये भ्रमजीवी बन जाता है। शिक्षा की कमी की स्थिति में बुद्धिजीवी और भ्रमजीवी, ऐसे दो वर्ग सदा ही बन जाते हैं। शिक्षित दशा में वह स्थिति संघर्ष छाती दे। सब-के-सब बुद्धिजीवी बन जायें तो क्या खायें, क्या पीवें और कहाँ रहें ? सब-के-सब भ्रमजीवी बन जायें तो मनुष्य के

बुद्धिक विकास का द्वार खुला कैसे रहे ? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि सबमें बुद्धि-कोशक समान नहीं होता और बिना बुद्धि कोशक सुख्य भी होता है, उन्हें भी अवसर समान कहीं मिलते हैं ? समान अवसर पानेवाले भी समान काम नहीं कर सकते। इस स्थिति में दो बर्ग कमी दूट जायें, यह क्यापि संभव नहीं। सम्भव है, दोनों का समन्वय। बुद्धिजीवी भ्रम को नीचा न माने और भ्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे, फलित भाषा में बुद्धि-जीवी अपना आवश्यक भ्रम दूसरों से न ले, काम करने में छद्मा का अनुभव न करे, उस स्थिति में वे अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ सकते हैं। परिग्रह का क्रम है—विज्ञान से बढ़पन, बढ़पन से स्वयं हाथोंसे काम करने में छद्मा, दूसरों से भ्रम, भ्रम प्रतिदान के लिए फिर पैसे का अधिक संग्रह अधिक संग्रह के लिए अधिक पुराई यानो अधिक हिंसा और अधिक मूठ। हिंसा अपने आप अधिक नहीं बढ़ती। असत्य की भी यही बात है। रोग का मूल भोगवृत्ति है। उसके लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा और असत्य का विस्तार हाता है। जीवन-परिवर्तन की दिशा भोग-विरति है।

के लिये छोटा बुरे बनते हैं और अधिक संग्रह से समाज में विज्ञास आता है, वैयम्य फैलता है क्रूरता बढ़ती है।

सामाजिक प्राणियों के लिये एक तीसरे मार्ग की शोध हुई, वह न परिग्रह का है न अपरिग्रह का। वह है इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण। इसी मध्यम मार्ग का नाम है "अणुजन्त"।

विज्ञास जीवन में शिथिलता आता है। इसके लिये अधिक संग्रह आवश्यक होता है। विज्ञासी स्वयं भ्रम नहीं करता इस लिये उसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये दूसरों से भ्रम लेना पड़ता है। भ्रम का प्रतिदान पैसा है, जो अधिक पैसा खर्च करता है, वह दूसरों से अधिक भ्रम लेता है। इस तरह दो वर्ग स्वयं बन जाते हैं। एक भ्रम लेनेवाला और दूसरा भ्रम देनेवाला। पैसे के बल पर भ्रम लेते-लेते व्यक्ति झूठा बन जाता है।

भ्रम देनेवाला अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिये पैसा कमाता है या उसमें इतनी योग्यता नहीं कि वह शारीरिक भ्रम किये बिना पैसा कमा सके। इसलिये वह शारीरिक भ्रम देकर पैसा कमाता है और इसीलिये भ्रमजीवी बन जाता है। शिक्षा की कमी की स्थिति में बुद्धिजीवी और भ्रमजीवी, ऐसे दो वर्ग सदा ही बन जाते हैं। शिक्षित दशा में यह स्थिति संपर्क छोटी है। सब-के-सब बुद्धिजीवी मन जायें तो क्या ल्यायें, क्या पीयें और कहाँ रहें ? सब-के-सब भ्रमजीवी बन जायें तो मनुष्य के

पौष्टिक विकास का द्वार खुला कैसे रहे ? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि सबसे बुद्धि-कौशल समान नहीं होता और जिनमें बुद्धि कौशल तुल्य भी होता है, उन्हें भी अवसर समान कहीं मिलते हैं ? समान अवसर पानेवाले भी समान काम नहीं छठा सकते। इस स्थिति में दो धर्म कमी दूट जायें, यह कदापि संभव नहीं। सम्भव है, दोनों का समन्वय। बुद्धिजीवी भ्रम को नीचा न माने और भ्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे, फलित भाषा में बुद्धि-जीवी अपना आवश्यक भ्रम दूसरों से न ले, काम करने में सञ्चा का अनुभव न करे, उस स्थिति में वे अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ सकते हैं। परिग्रह का क्रम है—विश्वास से बढ़पन, बढ़पन से स्वयं हाथोंसे काम करने में सञ्चा, दूसरों से भ्रम, भ्रम प्रतिदान के लिये फिर पैसे का अधिक संग्रह अधिक संग्रह के लिये अधिक बुराई धानो अधिक हिंसा और अधिक मूठ। हिंसा अपने आप अधिक नहीं बढ़ती। असत्य की भी यही बात है। रोग का मूल भोगवृत्ति है। उसके लिये परिग्रह और परिग्रह के लिये हिंसा और असत्य का विस्तार हाता है। जीवन-परिवर्तन की विधा भोग-विरति है।

विषम स्थिति कैसे मिटे !

जीवन की आवश्यकताओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती, फिर भी यह सच है कि ये साम्य नहीं हैं। ये केवल जीवन धारण की साधनमात्र हैं। जीवन का साम्य है—उसकी पवित्रता, जो जीवन बसाने के लिए नहीं, किन्तु उसे ऊर्ध्वमुखी और विराट् बनाने के लिए है।

आवश्यकता की पूर्ति पवित्रता का साधन नहीं है, वह भूमिका धन सकती है। आवश्यकता पूरी न हो, यह विषम परिस्थिति है। इससे मनुष्य क्रूर बनता है। आवश्यकता-पूर्ति के साधन जति अधिक हों, यह भी विषम परिस्थिति है। इससे भी मनुष्य विस्वासी बनता है। सम परिस्थिति यह हो सकती है, जिसमें भ्रम करनेवाला आवश्यकता पूरी किये बिना न रहे और भ्रम न करनेवाला अधिक न पाये। क्रूरता और विस्वास, ये दोनों ही खरिद विकास के बाधक हैं। सम परिस्थिति उन्हें बढ़ने के लिये उत्तेजित नहीं करती। इसलिये वह खरिद विकास की भेद्य भूमिका धन सकती है, साधन नहीं। सम परिस्थिति में भी क्रूरता और विस्वास का अन्त नहीं होता,

किन्तु विषम स्थिति से इन्हें जा सामूहिक एजेंजना मिलती है, वह सम स्थिति से नहीं मिलती। इसलिए उसे परिप्र-
विक्रम की योग्य भूमिका कहा जा सकता है। पहला प्रश्न
है—सम स्थिति बने कैसे ? मनुष्य में मोह होता है, दुर्बलताएँ
होती हैं, इसलिए वह सबसे अधिक बढ़ा बनना चाहता है।
सुविधाएँ तो सर्वाधिक मुल्य हों और भ्रम भी करना न पड़े,
उस स्थिति का नाम है—वद्व्यन। इस वद्व्यन का अपना
बोध है—विद्या, जो दूसरों में क्रूरता पैदा करता है।

मनुष्यमात्र में बुद्धि का तारतम्य होता है और भाग्य का
भी, युग की भाषा में अवसर का भी। बुद्धि और भाग्य दोनों
के सुमेल से भ्रम किए बिना अधिक सुविधाएँ पाने का प्रयत्न
किया जाता है और यह सफल भी होता है। किन्तु इसका
सुफल नहीं होता।

अधिक बुद्धि और भाग्य या अवसर मिले यह व्यक्ति का
व्यक्त है पर उसे उसका दुर्बलता नहीं करना चाहिए। दूसरों
की अक्षयता और दुर्भाग्यता से अनुचित लाभ उठाने की बात
नहीं मापनी चाहिए।

संयम का मार्ग मात्स्यिक है किन्तु वह मानव समाज में
एकरूपता ला सके, यह शक्ति उसमें नहीं। क्योंकि वह इन्द्रिय
बुद्धि-तापत्र है। सत्ता सामयिक होती है, उसका आदेश
मानना पड़ता है, कोई चाह या न चाह। इसलिए वह सफो
एकरूप बनने के लिए पाप्य कर सकती है और इसीलिए

शेषम्य का अन्त चाहनेवाले बन-अन्ति या रक्त-अन्ति में विश्वास करते हैं।

सम स्थिति के लिए समाजवाद का सूत्र है—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके। इसके अनुसार पुराई और मलाई का मूख छोट परिस्थिति ही है। व्यक्ति नहीं। वह परिस्थिति का दास बनकर उसी के जैसा रूप किये चले पड़ता है। बग-भेद की स्थिति में शोषण रूप बिना नहीं रहता। सम्पत्तिशाही बग अर्थिक (गरीब) बग पर मनमानी करता है और उसे विवश होकर सारी स्थितियाँ सहनी पड़ती हैं। मजदूरी की स्थिति परम-बिन्दु पर पहुँचती है वह संघर्ष बिड़ता है और वह वर्गहीन समाज न देने तक चला ही रहता है। इसलिए सम स्थिति का निर्बिच्छय समाधान है—वर्गहीन समाज की रचना।

अधुना-अन्तर्द्वारा का प्रवाह व्याप्यात्मिक है। वह व्यक्ति को परिस्थिति का छप्टा मानता है और विभेता भी। इसके अनुसार अच्छाई और बुराई का कारण परिस्थिति ही है—वह एकान्तवाद मिथ्या है। व्यक्ति स्वभाव से भला ही है, वह एकान्तवाद भी मिथ्या है और वह स्वभाव से बुरा ही है, वह एकान्तवाद भी मिथ्या ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति की मात्रा तक भला होता है और बिहर्षि की मात्रा तक बुरा। परिस्थिति उसकी भलाई (स्युज) और बुराई (विगुण) का निमित्त बनती है।

नया मोड़ लेना होगा !

पूँजीपति और गरीबों के हित परस्पर विरोधी हैं। उनके समन्वय के दो मार्ग हैं—एक पशुपक्ष का, दूसरा आत्म-बल का। यह सब जानते हैं—अधिकार-ज्वाहरण के युग में विपुल वैपश्य टिकनेवाला नहीं है। वह मिटेगा यह निश्चित जैसा है। पर कैसे मिटेगा ? यह प्रश्न कई राष्ट्रों के लिये अति महत्व का है। भारत के लिये और भी विरोध है। वह कानून के द्वारा मिटता है या संयम के द्वारा, यह देखना है। धन से मोह छूटा नहीं, कानून अतिरिक्त धन छोड़ने के लिये बाध्य करता है, तब कष्ट होता है। संयम धन का ममत्व छूटने से आता है, वैसी स्थिति में धन-समृद्ध न रहने पर भी कष्ट नहीं होता। अन्याय कष्ट को मोल लेना चाहेगी या शान्ति को ? शमका निणय अभी हुआ नहीं है। पूँजीवाद के अनिष्ट परिणामों—बेकारी, दरिद्रता, मुग्नमरी आदि को समझकर लोग समाजवाद की ओर झुक गये। जैसे ही पूँजी के अनिष्ट परिणामों—मोह, छालप, अनीति, आदि-आदि को लोगों ने नहीं समझा। अब उसी को समझने और समझाने का प्रयत्न करना होगा।

आकर्षण कैसे छूटे ?

पूँजी वस्तु विनिमय का साधन है। वसमें फलदान की शक्ति है। पैसा लेकर जाता है, वह बाजार से मनचाही वस्तु ले आता है। अपरिमह स्वीकार कर बाजार में जाये तो उसे साग के लिये एक कच्ची भी नहीं मिलती। दिनचर्या के अधिक अंग पूँजी से पूरे बनते हैं। मृत्युचर्या के अंग भी वैसे ही हैं। रोटी, कपड़ा, मकान, वषा व छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। वसकी पूर्ति पैसे से होती है इसलिये वह सहजतया बिना कहे-सुने और प्रचार किये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। अपरिमह के लिये प्रचार खटता है, अपरिमही बनने की सीख दी जाती है फिर भी वसके लिये पर्याप्त मात्रा में आकर्षण पैदा नहीं होता। सही अर्थ में थोड़े आदमी विश्वास करते हैं—अपरिमह अत अष्टा है। बहुतों का विश्वास परिमह में है। अपरिमह अत है, इसलिये वह साधना-सापेक्ष है। इस हाथ से दिया इस हाथ से लिया—ऐसी तात्कालिक फलदान-शक्ति वसमें नहीं है और उसका फलदान भी परार्थपरक नहीं है। वसका फल है—भूतियों का सुघाट, आन्तरिक आनन्द। बहुत लोग इस गहरे दरान तक जाने की इग भरना भी नहीं जानते, इसलिये वहाँ जाना भी नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में पैसे का आकर्षण एकत्र हो जाता है।

मूल्यांकन की दृष्टि

मनुष्य का मूल्य पैसे से आँका जाता है। पैसेवाला निर्गुण भी मय बुद्ध और निर्घन सगुण भी बुद्ध नहीं—प्राप्त पत्नी स्थिति है। बिद्वान् और कलाकार, शिल्पी और कुशाळकर्म इन सबको पैसेवाले का द्वार खटखटाना होता है। आत्मर्य के भाषा सं—विद्या, कला, शिल्प ये सब पैसे के सामने झुकते। इसलिये यह सर्वोपरि सम्मान पा रहा है। इस स्थिति में व मयकी दृष्टि सहसा अपनी ओर मीच लेता है, इसमें को आरपय मही।

भूल-सुधार

पैसे के प्रति आक्षेप होने की वो मुख्य बातें बताई गई हैं, उनके बारे में हमें दृढ़ दृष्टि से विचार करना है। जहाँ जीवन है, वहाँ उसके निर्वाह की आवश्यकताएँ भी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह भी सच है—आवश्यकता-पूर्ति के लिये पदार्थ और पदार्थ प्राप्ति के लिये पैसा या वस्तु जैसा दूसरा कोई भी साधन आवश्यक है। किन्तु यहाँ एक तथ्य समझना और रोप रूखा जाता है। वह यह है कि मनुष्य अतिना कार्य आवश्यकता बरा नहीं करता, कतना वृत्ति बरा करता है। प्रत्येक वृत्ति में वासना-पूर्ति की भावना होती है। वे व्यक्ति में कृत्रिम आवश्यकता पैदा करती हैं। उनसे दृढ़ आवश्यकताओं पर परदा गिर जाता है। मनुष्य नहीं समझ पाता—क्या आवश्यक है और क्या काल्पनिक ? दृढ़ आवश्यकता बरा व्यक्ति बहुत थोड़ा कार्य करता है। अधिकतर कार्यों के पीछे वृत्ति की ही प्रेरणा होती है। अनगिनत मिठाइयाँ खाई जाती हैं, उनका हेतु भूल-शान्ति है या स्वाद-वृत्ति ? एक आदमी अपने रहने के लिये दो

चार मकान या महल बना लेता है। यह क्या है ? आवश्यकता है या एशो-आराम की वृत्ति ? क्या सभी कपड़े आवश्यकता के लिये पहने जाते हैं ? करोड़ों की पूँजी क्या आवश्यक होती है ? इसी प्रकार एक ओर आमाद-प्रमोद, बोल-चाल जैसे जीवन के साधारण काय और दूसरी ओर धन-समृद्ध जैसे विरोध कार्य, ये सभी बहुलतया वृत्ति-प्रेरित होते हैं। मूठी मूल्य या कृत्रिम मूल्य से आदमी ग्याता है, उससे यामना पूरी होती है, शरीर नहीं बनता। यही बात कृत्रिम आवश्यकताओं की है। इससे प्रेरित हो मनुष्य समृद्ध करता है, आनन्द नहीं मिलता। पैसे के प्रति जो अधिक या सर्वोपरि आकषण है, इसका हेतु कृत्रिम आवश्यकता है। यह मटकाने वाली मूल है। चारित्रिक विकास के लिए इसका परिमार्जन करना होगा। शुद्ध आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता का विवेक जागृत करना होगा। अणुशत-दर्शन बतलाता है कि प्रत्येक अणुशत कृत्रिम आवश्यकता पैदा करनेवाली वृत्तियों का निग्रह करे।

मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि

दूसरी बात है—मूल्य परिवर्तन की। इसके बिना प्रत-
 विकास में कठिनाइयाँ आती हैं। वहाँ बाहरी पदार्थों के
 आधार पर। व्यक्ति का मूल्य आँका जाता है, वहाँ व्यक्ति
 पदार्थों के नीचे दब जाता है। व्यक्ति का महत्व धन और पदार्थ
 साथ जुड़ा होता है, तब चरित्र विकास की सहज प्रेरणा नहीं
 मिलती। मूल्यांकन की दृष्टि चरित्र हो तब ही वह व्यापक रूप
 सहज स्फुरित हो सकता है। स्वायत्त-सम्पादन का ध्येय गौण
 होने पर ही परमार्थ दृष्टिवाले व्यक्ति पैदा हो सकते हैं।
 मानवारी के प्रति भद्रा बढ़ने पर ही ईमानदार पैदा हो सकते
 हैं। भ्रम का मूल्य बढ़ा है। उससे भ्रम निष्ठा पैदा हुई है। फिर
 ही व्यक्ति-व्यक्ति के बीच योग्यता का अतिमात्र वारतम्य है।
 वह भ्रम-निष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अत्यन्त न्यून
 मात्रा की योग्यतावाला व्यक्ति दूसरे के भ्रम को अपने ऊपर
 जोड़ लेता है। ऐसा करने में उसकी स्वार्थहीन बुद्धि नहीं है
 केन्तु वह अपना पेट पाखने के छिप ऐसा करता है। जिसे

बौद्धिक योग्यता मिली है और जो विभासी है, वह प्रायः सुद्विहीन व्यक्तियों के भ्रम का अनुचित छाम उठायेगा। यह सुद्विकौराठ ध्यामोह है। वही उसे भ्रमनिष्ठ नहीं बनने देता। बौद्धिक योग्यता बढ़ने पर ही भ्रम का विकल्प कम हो सकता है। परिव्रनिष्ठ बनने में भी ऐसी बाधाएँ आती हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो आकांक्षा का सारवम्य है, वह परिव्रनिष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अति आकांक्षावाले धन को अधिक महत्व देते हैं इसलिये धनी को अपने आप अति महत्त्व मिल जाता है। धनी को जैसे जैसे अधिक महत्त्व मिलता है, वैसे-वैसे वह और अधिक धनी बनने को छूटपाता है। आध्यात्मिक योग्यता बढ़ने पर ही आकांक्षा कम हो सकती है। उसे जगाने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही जीवन के मूल्य बढ़ सकते हैं।

व्यवस्था-सुधार से पहले शक्ति का सुधार हो

इच्छा और आवश्यकता की वृद्धि से विकास होता है— यह धारणा मिथ्या ही नहीं घातक भी है। बेपत्त का जो विकास हुआ है, वह उसको निरंकुश छोड़ने का ही परिणाम है। सीमित इच्छार्थ और सीमित आवश्यकताएँ मनुष्य को मूढ़ नहीं बनाती। असीमित इच्छाओं और असीमित आवश्यकताओं ने युग को बस्तु-बहुल बनाकर मनुष्य को रक्त का प्यासा बना डाला है और जब वह सारी सामग्री को अपेक्षा ही निगल जाना चाहता है।

निरंकुश इच्छार्थ ही शोषण करती हैं और बुद्ध भी, जो अभी-अभी लड़ गव से, इन्हीं की देन है। प्रतिहिंसा से पीड़ित मनुष्य शान्ति चाहता है पर अशान्ति का मूख या इच्छा का अनियन्त्रण है, उसे मिटाना नहीं चाहता—यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

शान्ति का निर्विघ्नत्व माग है—भोग का अस्वीकरण। भोग के अस्वीकरण से परिमह का अस्वीकरण होगा और सबसे हिंसा और असत्य का।

आज की दुनियाँ में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा को विकसित किये बिना विश्व शान्ति कभी नहीं हो सकती। इसीलिए बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं पर ये जीवन-क्रम को बदलते नहीं। इसीलिए ये अहिंसक बन नहीं पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है, परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। भोग चाहते हैं—भोग-पितास ओं हैं, वे तो पल्लव ही रहें; परिग्रह भी कम न हो और हिंसा भी छूट जाय। कैसा है यह व्यामोह। भोग विरति के बिना जो हिंसा विरति चाहते हैं, वे पुराई की चढ़ को सीचते हुए भी परिणामों से घबरा जाते हैं। जो हिंसा-विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं, उन्हें समझ सेना है कि हिंसा के कारणों को त्यागे बिना हिंसा को त्यागने का परिणाम केवल दम होगा, अहिंसा नहीं। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी उदात्त बाणी में कहा—“जीवन को हठका बनाया” क्योंकि अर्थ के गुलाम भार से दया जीवन पवित्र नहीं बन सकता।

जीवन-दृष्टि के लिए अहिंसा के द्वारा शिमका जीवन बदलता है, वह न दूसरों से अनायश्यक भ्रम लेता है और न फिंसी का शोषण करता है। निरपय में अहिंसा आती है, सब व्यवहार में स्वनिर्मरता अपन आप आ जाती है। अथवा यों कहना चाहिए कि व्यवहार में स्व निर्भर रहनेवाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई भ्रम करे या न करे,

इससे अहिंसा का सम्बन्ध नहीं, किन्तु दूसरे से भ्रम लेने के लिये परिग्रह व परिग्रह के लिये हिंसा, इस तरह हिंसा को बढ़ावा मिलता है। स्वयं भ्रम करनेवाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा में नहीं रूँसता। इस प्रकार स्व-भ्रम निरमरता से हिंसा को अधिक उत्तेजना नहीं मिलती। निष्कर्ष यह निकला कि अपना आवश्यक कार्य अपने आप करने से समाज में अमोग, अपरिग्रह और अहिंसा का जैसा जीवित विकास हो सकता है, वैसा विकास दूसरों के भ्रम पर निर्भर रहनेवाले समाज में नहीं हो सकता।

एक नई विचारधारा आई है, जिसका विधान है—अधिक उत्पादन करो। आवश्यकताएँ अधिक होती हैं और उत्पादन कम इस कारण समस्याएँ बढ़ती हैं। आवश्यकताएँ बढ़ें जैसे ही उत्पादन भी बढ़े तो समस्या पैदा न हो। यह हिंसा को मुलाका दे। वस्तुएँ बढ़ी हों, यह कोई अच्छाई नहीं, वे अधिक हों, यह बुराई नहीं, उन्हें कम करने की आ भावना है; वह अच्छाई है और उन्हें बढ़ाने की आ भावना है—यह बुराई है।

वस्तुओं को बढ़ाने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा ही तो अस्त में संस्कार बन जाती है। संस्कार की पूर्ति के लिये फिर स्पर्धा थकती है। उसमें औचित्य-अनौचित्य का कुछ विचार ही नहीं रहता और इस तरह घुराघुरों का द्वार खुल जाता है। जब वस्तुओं को कम करने की शक्ति बनती है, तब व्यक्ति को

पुरे साधन अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यही से अण्डाई का अक्षुर प्रस्तुत होता है।

इसे कौन नहीं जानता कि अधिक उत्पादन की स्पर्धा ने हिंसा को प्रत्यक्ष निमन्त्रण दिया है। व्यापारिक स्पर्धा, राज्य-विस्तार या अधिकार प्रसार की स्पर्धा ने आज के युग को अणुबमों की स्पर्धा का युग बना दिया है। स्पर्धा का अन्त सीमा में होता है, विस्तार में नहीं। अणुबम का अन्त त्याग में होता है, आसेबन में नहीं। यदि उत्पादन वृद्धि के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की दिशा खुली रही तो अनुमान नहीं किया जा सकता कि भानय का अन्त होने से पहले स्पर्धा का कभी अन्त भी हो सकेगा।

आन्दोलन के अन्त समयमय हैं। संयम निषेध-प्रधान होता है। करने से पहले जो नहीं करना चाहिए, वह रुकना आवश्यक है। टॉल्मटाय ने अनुमति किया कि "एक बग दूसरे बग को गुलाम बनाये रखता है, यह दूसरों के दुःख और पाप का कारण है। इस पर से उन्होंने एक सीधा सादा सा अनुमान निकाला—"मुझ दूसरों की महायत्ना फरनी हो ता में जो दुःख मिटाना चाहता हूँ उससे मुझ पहले ये दुःख देने बन्द कर देने चाहिए। (त्वारे करी शू शू ? पृष्ठ १६६)" उन्होंने बताया—पनिर्कों के पाम से लेकर गरीबों का देने की जो मेरी योजना थी, उसकी निरर्थकता में जान गया। मैंने देखा कि पैसा पैसे के रूप में दिखावटी नहीं है, अपना ही नहीं, अन्त अन्तिम

है। कारण गरीब का हित तो उसकी अपनी मजदूरी का फल वही के पास रहे इसी में है।”

सुख न छूटना और दुःख नटना—यह सवम का सूत्र है और शास्त्रविक सत्य है। सुख देना और दुःख बुर करना—यह उपयोगिता का सूत्र है और सामयिक सत्य है। अर्थ प्राचुर्य से समाज का विकास नहीं होता—ऐसा नहीं मामा आता। विकास की दशा भले ही दूसरी हो, प्राचुर्य को आवश्यकता से आगे नहीं ले जाना चाहिये। उपयोगिता से आगे प्राचुर्य आता है, वह उन्माद छाता है। प्रथम विकास की दिशा में अर्थ-संपन्न की कल्पना नहीं आती। अर्थ-दान की बात ही कहीं रही ? अर्थ-संपन्न को बहिष्कृत मानने पर विनियोग की भाव आती है। उसकी (विनियोग की) ही एक शाखा दान है। प्रथम का अर्थ है—अर्थ पर से अपना स्वामित्व हटा लेना। स्वामित्व हटाने की पहली शर्त है—ममत्व हटे। पदार्थ-संपन्न में अपना अनिष्ट न दीखे, तब तक ममत्व-मुक्ति नहीं मिलती। संपन्न में अनिष्ट की भावना जम्हात्म-दृष्टि से मिलती है। इसका आदेश है—कहीं कुछ भी संपन्न न करे। अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न इसे अपने अधिकार में ले। यह कठोर माघना है। इसके लिए जीवन की वृत्तियों का महान् बलिदान चाहिये। ऐसा न कर सके, उनके लिए फिर मध्यम मार्ग है। उसकी दृष्टि है—जीवन-निर्वाह की। आवश्यकता से अधिक संपन्न न किया जाय।

कितना समझ उतना धन्य—यह प्रथम-ग्रहण की पूर्व भूमिका है। समझ द्वारा इष्ट-वृत्ति की कल्पना होती है, तब वह साध्य जैसा बन जाता है। आत्म विश्वास की कमी है, उससे समझ को प्रोत्साहन मिल रहा है। लक्ष्यपति काटिपति भी धन कमाने की दौड़ में जुटे रहते हैं। युद्ध में क्या होगा ? बाढ़-वर्षों का क्या होगा ? एनी आराकाएं उन्हें मताती रहती हैं। आत्म विश्वास हटान्न करने के लिए अय-व्यवस्था की रियरता अपेक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाये और वह योग्यता के अनुरूप मिले, एनी स्थिति में अयन की निश्चिन्तता आती है। भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होती है, समझ-वृत्ति शिथिल बन जाती है। एसी भूमिका में धनों को विकसित होने का सुन्दर अवसर मिलता है। पर स्थिति दूमरी ही है। जहाँ एसी भूमिका है, वहाँ धनों की भावना नहीं है और जहाँ धनों की भावना है, वहाँ वैसी भूमिका नहीं है।

गरीबी में अमिलतापाने बनी रहती है। अमीरी का दोष है—अज्ञान। सन्तुष्टि या इच्छा-सन्तुष्टन त्याग से हटान्न होता है। पहले धनु का त्याग और फिर वासना का त्याग।

त्याग समतावाद है। अपने हित के लिये सब कुछ त्यागे—यह सिद्धान्त जैसा धनी के लिये है, वैसा ही गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो धनुष मापनी चाहिए—एक व्यवसन-मुक्ति, दूसरी इच्छा-मुक्ति। धनियों को उसके द्वारा तीन धनुष पानी

चाहिए—(१) अभ्यास-मुक्ति (२) इच्छा-मुक्ति (३) अशोषण ।

गरीबों को करना चाहिए—बहु-भाग, बहु-परिमह और बहु-हिंसा की आकांक्षा का त्याग । धनिकों को करना चाहिए—बहु-भोग, बहु-परिमह, बहु-हिंसा, और इनकी आकांक्षा का त्याग । समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा, समान भाग और विकास का समान अवसर मिलने का सिद्धान्त है । सुख-सुविधा और भोग यहाँ साम्य बनते हैं, वहाँ समृद्ध और शोषण घुस आते हैं । अणुज्ञ आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं । इस क्षेत्र में जीवन का साम्य है—पवित्रता और वस्तु निरपेक्ष आनन्द । सुख-सुविधा और भोग जीवन निर्वाह की प्रक्रिया है । हममें अधिक आकर्षण और भ्रमण नहीं होना चाहिए । "मैं जैसे अनुभूतिशील हूँ जैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील हैं"—इसकी मार्मिकता तभी ममकी जाती है जब बाहरी पदार्थों से आकर्षण और भ्रमण दूरता है । ये व्यक्ति का मूढ़ बनाते हैं । मूढ़ व्यक्ति दूसरों की आनुमायिक समता को सही-सही नहीं आंक सकता । आध्यात्मिक दृष्टि विगुह्न दर्शन है । वह अपनी समता का स्वीकार है । अपनी मानसिक स्थिति विषम न हो, यही साम्य है । यह अमूढ़ दर्शन है । इसी के आधार पर अणुज्ञ आन्दोलन के स्वरूप आदि का निश्चय किया जा सकता है—

(१) अणुज्ञ-आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठता ।

(२) अणुज्ञ-आन्दोलन का प्येब है—जीवन-शुद्धि ।

- (३) अणुप्रत-आन्दोलन का आवर्त है—परित्र का उत्कर्ष ।
 (४) परित्र उत्कर्ष के हेतु हैं—बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु हिंसा ।
 (५) परित्र उत्कर्ष के हेतु हैं—माग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता ।
 (६) आवर्त प्राप्ति के साधन हैं—अणुप्रत ।

हिंसा, असत्य, चोरी, अज्ञानप्रय और परिग्रह, ये पांच दोष हैं। इन में मूल दोष हिंसा है। उसकी वृत्ति विविध संयोगों में विविधमुखी बन जाती है। असत्य और चोरी, ये दोनों दोष की अपेक्षा नहीं हैं। इसलिये ये बंदेहिफ हैं। मुख्यतया सामाजिक स्थिति सापेक्ष हैं। सामाजिक जीवन में जैसे यश, सम्मान, ग्लेह की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, वैसे ही विरोध, फलद, निंदा, चुगली, दोषारापण और भय की वृत्तियाँ भी प्रबल बनती हैं। इन वृत्तियों का निमित्त पा हिंसा का बीज असत्य के रूप में पृष्ठ पड़ता है। असत्य मन, असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाती है फिर वह असत् के संस्करण और सत् के असत्करण में लग जाता है। संक्षेप में असत्य के चार कारण बतलाये हैं—

- (१) प्रोथ (२) सोम (३) भय (४) हास्य-गुनूहल ।

प्रोथ के आवेरा में आकर व्यक्ति यथार्थता को पकड़ देता है। यथाय का निरूपण इच्छा-वृत्ति में बाधक बनता

है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है। इसी प्रकार अनिष्ट की आशाका और हँसी-मजाक भी असत्य की इमारत है।

प्रतिष्ठा-बहुष्पन, पदार्थ का आकर्षण और अदृष्टि—ये चोरी के निमित्त बनते हैं। अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बहुष्पन के भाव पैदा ही नहीं होते। यह पर-सापेक्ष-वृत्ति है। पदार्थ के प्रति आकर्षण अकेलेपन में भी होता है किन्तु वहाँ वस्तु का उपभोक्ता दूसरा नहीं होता, इसलिए उसे चुराने की वृत्ति नहीं आगती। जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है, वही अदृष्टि की है। अनुपम या असन्तुष्ट व्यक्ति का वस्तु-समूह आवश्यकता निर्भर नहीं होता। यह केवल छाछसा निभर होता है इसलिए असन्तुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरे की वस्तु चुरा लेता है। इस प्रकार असत्य और चोरी, ये दोनों परिस्थिति-सहचरित अपेक्षाएँ हैं। तात्पर्य की भाषा में चुराई का बीज व्यक्ति की अपनी अशुद्धि है। सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर वह अनेकरूप बन जाती है। हिंसा ही निमित्त भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती है।

वैयक्तिक स्थितियाँ या वैदिक अपहरण दो कोटि की हैं—
 वैद प्रधान और मानस-प्रधान। भूल-व्यास आदि वैद-प्रधान अपहरण हैं और वासना-अब्रह्मपर्यं, सुख-दुःख आदि मानस-प्रधान। अब्रह्मपर्यं वैदिक है फिर भी बाहरी निमित्त से उत्पन्न होता है, इसलिए परिस्थिति-सापेक्ष भी है। परिमह कुछ अंशों में वैदिक है, कुछ अंशों में वैदिक और बाहरी स्थिति-

सापेक्ष है। श्वाण-पान भी परिग्रह है, उस दृष्टि से यह वैदिक भी है। परिग्रह के अधिक संचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, इस दृष्टि से यह वैदिक भी है। व्यक्ति का मापदण्ड घन घन जाता है, जिसके पास घन थोड़ा, वह छोटा और जिसके पास घन बहुत, वह बड़ा—वसी परिकल्पना ध्या जाती है; परिग्रह के संघय का निमित्त बढ़ जाता है, फिर वह जीवन निर्वाह का साधन न रहकर बिलाम और यज्ञपन का साधन बन जाता है। निमित्त परिवर्तन का सिद्धान्त व्यापक है। प्रत्येक काय की प्रारम्भ-दशा का निमित्त आगे चलकर उमी रूप में मही रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शीत और गर्मी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। बुद्ध ममय पाद वैदिक अपेक्षा जो थी, वह कास्पनिक घन गई। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लान-रक्षा का विकास होते-हाते सारा घन कपड़ों से ढँक गया। उससे आगे विकार-आवरण भी एक निमित्त बना। शोभा, जमिमान और स्पर्शा, ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र-परिधान की जो उपयोगिता थी, उसे सौन्दर्य और स्पर्शा न छोड़ बाछा।

समाज की पुरी अर्थ-नीति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अर्थ-नीति के आधार पर समाज घनता पिगाइता है। उसकी अण्डाई और पुराई के आधार पर वह अण्डा और पुरा घनता है। समाज की अर्थ-नीति अर्थ-निष्ठ, स्वायत्त और

आत्म निर्मर होती है, तब समाज भी अपने भ्रम पर मरोसा करनेवाला और अपरिमह की ओर आगे बढ़नेवाला होता है। अर्थ-नीति शोषण पर आधारित होती है, अशिक्षित और शक्तिहीन वर्ग के भ्रम का अनुचित लाभ उठाने की होती है, तब समाज बिछासी, आससी और संप्रहनिष्ठ बनता है। समाजवाद अर्थ-नीति को सर्वसाधारण उपयोगी यानी शोषण-हीन बनाने की प्रवृत्ति में सक्षम है। वैसा कुछ बनता सा दीक्ष पड़ता है। फिर भी यह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिमह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। वह हृदय में आवे तो सत्ता के ब्याप के बिना ही समाज शोषणहीन बन जाए। पर जैसे जाति के आधार पर जोटा पड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जातिवाद नहीं मिटने वाला है वैसे ही धन-शक्ति प्रतिष्ठा प्रदूषण, बिछास और सुविधातिरेक का साधन बनी रहेगी उस स्थिति में न अपरिमह वृत्ति जीवन में आने वाली है और न धन का आकर्षण घटने वाला है। व्यवस्था-सुधार समाजवादी योजना का फलित है। अपरिमह के सिद्धान्त का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिए व्यवस्था-सुधार की अपेक्षा रहती है और व्यवस्था-सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिये। इस भूमिका में दोनों के साथ एक न होने पर किञ्चित् सापेक्ष बन पाते हैं। सुपरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधारने में कठिनाई आती है। इसलिये साधारणतया (विशेष आत्मिक

व्यक्तियों को छोड़ कर) वृत्ति सुधार को शोषण-हीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वृत्ति-सुधार हुए बिना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिये व्यवस्था-सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहती है।

आइन्वर और विद्यासपूर्व जीवन रहे, तब अणुप्रतों की कल्पना सफल नहीं हो सकती। अणुप्रती अणुप्रतों का पाठन भी करे और जीवन को आर्थिक भार से बोझिल भी बनाये रखे, ऐसा बनना सम्भव नहीं। विद्यासी जीवन में धन कमकटा है। सादगीपूर्ण जीवन में धन कमकटते हैं। धन और धन, दोनों एक साथ नहीं चमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन निवाह उपयोगी धन मिल जाता है किन्तु आइन्वर और विद्यास योग्य धन नहीं मिलता। विद्यास के लिए धन का अतिरेक और इसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन— ऐसा होता है, धन टूट जाते हैं। इसलिये अणुप्रती को जीवन-व्यवस्था का चालू प्रश्न पढ़ना पड़ता है। ऐसा किये बिना वह धन और विद्यास दोनों के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। न वह सफल प्रती धन सकता और न सफल विनामी ही रह सकता है। इस पर से अणुप्रती के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात आती है। शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं किन्तु समाज-व्यवस्था बैसी न बनने पर भी कम-से-कम उसे तो अपना जीवन-प्रश्न पढ़ना ही होगा। धन के द्वारा बड़ा धनने की भावना, दूसरों से अधिक

सुविधा पाने की भावना दूसरों के मम द्वारा अनुचित काम करने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सहज धर्म ही जाता है। अणुत्रय विचार का दृश्य है—व्यक्ति-व्यक्ति में सहज-धर्म का विवेक अगाना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा सुराश्यों से बचे, बचने का उपाय करे, प्रती बने, वैसी भावना पैदा करना।

चौथा अध्याय

निर्माण की दिशा में व्रतों का महत्त्व

परिस्थितिवाद पर दो दृष्टियाँ

परिस्थितिवाद को लेकर दो धारारूप बल पड़ी हैं। कोई कहते हैं—आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाहरी व्यवस्था का सुधार नितान्त आवश्यक है। कई यों सोचते हैं—जटिल परिस्थितियों में भी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। इन दोनों में भी सचाई के अंश हैं। सामान्य शक्तिवाले व्यक्ति जटिल स्थितियों से छड़ नहीं सकते। उन्हें सरल स्थिति की अपेक्षा रहती है। हमी में ये बुद्ध भले रह सकते हैं। विरिष्ट शक्तिवाले व्यक्ति बाहरी व्यवस्था को हाँपकर आगे बढ़ जाते हैं। वे बाहरी स्थिति के गुलाम नहीं होते।

अणुत्रय-आन्दाष्टन आध्यात्मिक पारिवर्तिक या नैतिक गति का प्रेरक है। इसके पास आर्थिक सुधार या विकास की कोई योजना नहीं है। इसके पास एवमात्र योजना यही है कि मनुष्य हर स्थिति में मनुष्य रहे। अच्छी स्थिति में मनुष्य मनुष्य रहे और बुरी स्थिति में वह मनुष्य भी न रहे, यह मनुष्यता नहीं, परिस्थिति की गुलामी है। प्रथम निष्ठा का

तात्पर्य है—मनुष्य परिस्थिति का विजेता बने। बुरी परिस्थिति में मनुष्य सत्य-निष्ठ नहीं रह सकता—अणुव्रत-दृष्टि में यह मान्य नहीं है। स्थिति के अनुसार घुरा मछा बनने की वृत्ति परस्त्रता की भावना है। मनुष्य ने कष्ट-सहिष्णुता का विकास नहीं किया, इसलिए वह कष्टों से घबरा परिस्थिति के सामने घुटने टेक देता है। अणुव्रती अहिंसा निष्ठ होता है। अहिंसा निष्ठ कष्ट-सहिष्णु होता है। यह स्थिति के सामने घुटता नहीं, उसे सहन किये पड़ता है। भावना की हीनता के कारण मनुष्य में तिसिद्धा की कमी हुई है। अणुव्रत-आन्दोलन की अपेक्षा है—मनुष्य को बसकी शक्ति का भान हो। धारणा में परिवर्तन होने पर सुख-सुविधा की अपेक्षा चरित्र का मूल्य बढ़ जायेगा। चरित्र को खोकर सुख-सुविधा पाने की वृत्ति टूटने पर मनुष्य को नीचे जाने की याद ही नहीं सुमेगी।

जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं की अपेक्षा हो, ऐसी दृष्टि अणुव्रत-आन्दोलन की नहीं है। इसकी दृष्टि है—सुख-सुविधा पाने के साधन दोषपूर्ण न हों, कमी न हों, किसी भी स्थिति में न हों।

अपरिग्रह की ओर

परिग्रह मनुष्य की मान्यता है। वस्तु का मूल्य और वस्तु के द्वारा सुख होने का विचार भी उसकी मान्यता है। व्यापकता की जो पूर्ति है, यह सुख या असुख कुछ भी नहीं है। उससे आगे जो सुख की कल्पना है, यह मानसिक मान्यता है। पदार्थ न परिग्रह है, न बन्धनकारक और न दुःस्वभावी। हमारी इच्छा उससे जुड़ती है तभी यह परिग्रह, बन्धन-कारक और दुःस्वभावी बनता है। वस्तु स्थिति में परिग्रह इच्छा ही है। वह मनुष्य की अपनी स्थिति है। यह बाहरी पदार्थों से मग्न होकर उन्हें भी परिग्रह बना डालती है। फिर इच्छा प्राणुय से अर्थ-प्राणुय और अर्थ-प्राणुय से इच्छा-प्राणुय, इस प्रकार दानों की कड़ी जुड़ जाती है। समाजवाद के अनुसार अर्थ प्राणुय से पर्याप्त माना जाता है। वह प्रचुरता का दान है। प्रत्यक्ष ही नहीं है। इच्छा-प्राणुय दोनों का मान्य नहीं है। व्यक्ति की इच्छा का नियंत्रण दानों खादते हैं। अधिक इच्छा और अधिक समाज से व्यक्ति अधिक

व्यवस्था स्वयं सरल बन जाती है। अपरिमित-अणुप्रति की भावना यही है कि कोई व्यक्ति समझ करे ही नहीं किन्तु कल की चिन्ता को होती है—काम किया जा सके या नहीं ? कमाया जा सके या नहीं ? मिले या नहीं ? बही समझ का हेतु है। यदि सामाजिक व्यवस्था निश्चिन्तता की स्थिति पैदा कर दे तो फिर कौन समझ का मोह करेगा ? विशिष्ट अणुप्रतियों ने एक छात्र के समझ की छूट रक्की है, वह वैयक्तिक व्यवस्था पर आधारित है। जीवन के मरण-पोषण की व्यवस्था सामूहिक हो जाये तो उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति का प्रतिशत देखते हुए एक छात्र की संख्या अधिक है। पारिवारिक जीवन के सामान्य स्तर की अपेक्षा अधिक नहीं भी हो सकती है। अणुप्रति धान्दोखन का दृष्टिकोण केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। हिन्दुस्तान का आर्थिक स्तर भी ऊँचा उठ रहा है। सारी स्थितियों की विमर्षणा के बाद अणुप्रतियों को यही संख्या उपयुक्त लगी। यह एक ही सीमा है। इससे अधिक संग्रह किया ही नहीं जा सकता। इतना समझ किया जाय या रखा जाय, यह अपेक्षा नहीं है। बहुत सारे विशिष्ट अणुप्रती इस संख्या का पतुर्वाश भी नहीं रख रहे हैं। बहुतों के पास इतना नहीं भी है। अजन-पद्धति पर अंशुरा छानने के कारण अधिक समझ बढ़ाने का उनके पास साधन भी नहीं है। समझ बढ़ाना उनका ध्येय भी नहीं है, इसलिये व्यक्तिगत सम्पत्ति रहने से छात्रता अधिक पड़ेगी—

ऐसी सामान्य रूपना नहीं की जा सकती। छालसा का नियन्त्रण प्रव की साधना से होता है। जीवन के निर्बाह के साधनों की सुलभता वैयक्तिक पद्धति से हो या सामूहिक पद्धति से, इसमें विवाद नहीं। छालसा दोनों बिचस्पों में भी बढ़ सकती है। प्रव व्यक्ति की आन्तरिक छालसा का नियन्त्रण है। तत्काल यह (छालसा का) नियन्त्रण ही परिमह का अस्वीकरण है।

व्यक्ति निर्माण की दिशा

अणुप्रल-आन्दोलन व्यक्ति निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक डरना बढ़ता जाता है। कर्तों से बैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बढ़ती है, वह अन्तर को नहीं छूती। वह अन्तर का सूते हैं। अन्तर का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होती। इसलिए एक साथ बैसा नहीं बनता। इस स्थिति में व्यक्ति निर्माण की बाध शेष रहती है। व्यक्ति समाज का अङ्ग है। यदि एक अंग भी ज्योति-युज बनता है, उससे समूचे समाज को आलोक मिलता है। अणुप्रल आन्दोलन आध्यात्मिक है। इसकी दिशा सबके साथ खडने की नहीं है। घुराइयाँ कर-कर सब लोग सुख-सुविधाएँ पा रहे हैं, फिर अकेला मैं ही कन्हे ओड़ सुख-सुविधाओं से क्यों वधित रहूँ ? आ सबको होगा वही मुक्त होगा, यह विचार अन्-आध्यात्मिक है। व्यक्ति का पतन उसके अपने घुरे कर्म से होता है, इसलिए मुक्त वससे अवश्य पचना चाहिये, यह आध्यात्मिक चेतना है। व्यक्ति-निर्माण की मही दिशा वही है। आन्दोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति—

(१) अभय (२) सहिष्णु (३) सममात्री (४) पवित्र (५) सन्तुष्ट (६) शान्त (७) बिभेन्त्रिय और (७) आपहहीन बने ।

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

नीति शास्त्र के अनुसार "नैतिकता व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को व्याप्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक मलाई की वृद्धि करना है। श्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को "आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है, वह समाज का सचा कल्याण अपने आप ही कर देता है।" (नीति शास्त्र पृष्ठ ४० ८३) ऊपर की पंक्तियाँ व्यक्तिवादी विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वार्थपरता है, इसलिए वह समाज को नहीं माता। नैतिकता और व्यवहार की रेखाएँ दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समाज के लिए सम्पन्न है, नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय

सामाजिक मर्यादा को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहिर्मुखी होती है और नीति शास्त्र की दृष्टि अन्वमुखी।”
(नीति शास्त्र)

बहिर्मुखी दृष्टि से वृत्तते पर व्यक्तिवाद स्वायत्तता से अधिक मूख्यवान् नहीं लगता पर सही माने में यह स्वायत्त-परायणता नहीं है। यह आत्म निष्ठता है। अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात धोषी हाठी है। वैयक्तिक कल्याण की मर्यादा को न समझनेवालों से समाज का कल्याण नहीं हुआ है। जैसे व्यक्तियों द्वारा सम्भव है, समाज को बाहरी सफलताप मिळी हो, नैतिकता की दृष्टि से वे मूख्यवान् नहीं हैं। “नैतिक प्रयत्न द्वारा अनुभव बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता परन्तु आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।” (नीति शास्त्र पृ० १६७)

निमग्न^१ के साथ अन्मुख^२ आता है। यह दूसरों को घाट नहीं पहुँचाता। कोरा अन्मुख किमी महान् साम्य का प्रासंगिक फल या गौण परिणाम नहीं होता, इसलिये यह वृद्धि की मर्यादा का बाहक नहीं रह सकता। समाज समर्पण और और परतपरोपग्रह^३ की प्रयोग भूमि है, इसलिये यह अन्मुख-

१—आत्मिक-अज्ञान ।

२—आर्थिक या सामाजिक अज्ञान ।

३—आपसी सहयोग ।

वादी है। एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निमेयस् का सगम-स्थल होता है। व्यक्ति समाज बन्धन से बिल्कुल मुक्त नहीं होता है तो बिल्कुल बंधा भी नहीं होता। समाज की अपेक्षाओं से वह जुड़ा होता है इसलिए वह अभ्युदयकारी होता है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों के शोषन व नियमन में वह समाज मुक्त भी होता है, इसलिये वह अभ्युदयवादी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-मोक्ष की मर्यादा में व्यक्ति-शोषन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्युदयकरण, इन दोनों की सहस्थिति लिए चलाता है। यह अभ्युदय और निमेयस् का पूर्यकरण नहीं चिन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निमेयस् दो न हों ता फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे दो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वरूपवाली वस्तुओं का एक मानना मति-विपर्यय है।

अभ्युदय और निमेयस् की आराधना का दौरा-काल की दृष्टि से बंटवारा हुआ। उनसे अवश्य ही सम्बन्ध बढ़ा। अमुक काल और अमुक क्षेत्र धर्म या निमेयस् की आराधना का है और अमुक दौरा काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निमेयस् और अभ्युदय की साधना का बंटवारा हुआ, वह उचित नहीं है। चिन्तु इनके स्वरूप का स्पष्टज्ञात पायबन्द है, वह अदृशिम है इसलिए यह अस्याभासिक नहीं है। प्रत्येक कार्य निमेयस् के लिए हो, यह स्थिति साधना

के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निभेयस् के लिए नहीं होती। स्वजाति, समाज, राष्ट्र, अपर राष्ट्र के अस्तित्व के लिए निभेयस् से मेढ न खानेवाड़ी भी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें निभेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निभेयस् और अस्तित्व का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यकार है। निभेयस् की व्याख्या में "यहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निभेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है, यहाँ तक आचरण को मठा कहा जाता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) "जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के बरा में आता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) अस्तित्व के मार्ग में मठाई-सुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और यहाँ राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता।

अस्तित्ववाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मौल प्राणी की पूर्ण समाप्ति है। वह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारभूत मय शरीर का सर्वोपरि महत्त्व है। निभेयस् साधना में जीवन और शरीर का महत्त्व नहीं, यहाँ उनके नियमन-संबन्ध का महत्त्व है। जीवन अणु-अंगुर और शरीर अक्षर है, उसमें स्थिरता का अर्थ और सार-भाव इतना ही है कि जितना वह निभेयस् का साधन बने।

इसलिए अणुशत का पाप है—“सयम खलु जीवनम्” सयम ही जीवन है। जीना सयम नहीं है, निभेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो सयम है, वही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक मुख्यवाद मत का आधार नहीं बन सकता। मुख्य मिले, दुःख न हो, जीवन बना रहे मौत न हो—यह प्राणीमात्र की न्यायाविक मनावृत्ति है। मुखौपणा और प्राणैपणा से प्रेरित हो व मुख्य-सुविधा के साधन जुगते हैं। मुख्य-सुविधा में कहीं खल्ल न पड़ जाय—यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे सप्रह का भाव आता है। वह मन के बाँध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की याव गौण हो जाती है। सिर्फ सप्रह के लिए सप्रह प्रधान बन जाता है। दूसरों के शोषण, उत्पीड़न, दमन आदि सभी कुपेक्षाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। मुख्य पाने और दुःख से बचने की वृत्ति को ‘मनोवैज्ञानिक मुख्यवाद’ कहा जाता है। नीति शास्त्र की दृष्टि से इसे सप्रहवाद कहना चाहिए। अन्तुदय में मुख्य की कामना छूटी नहीं, इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर मुख्य पाने और दूसरों को मार फर जीने की वृत्ति पुरी है, यह माना गया। निभेयस् आनन्दमय है। आनन्द परिग्र का सदासीकरण है। मुख्य पौद्गलिक वृत्ति या पूर्ति है। इसलिए वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए मुख्य की कामना को पुरा माना गया। शरीर धारण और जीवन-निर्बाह के लिए अनियार्य अपेक्षाओं को पूरा करना मुख्यवाद नहीं है। यह आवश्यकता की पूर्ति

के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निभेयस् के लिए नहीं होती। स्वयं, समाज, राष्ट्र, अपर राष्ट्र के अन्वय के लिए निभेयस् से मेहनत न खानेवाली भी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें निभेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निभेयस् और अन्वय का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यकार है। निभेयस् की व्याख्या में "वहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निभेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है, वहाँ तक आचरण की मछा कहा जाता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) "जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के बरा में जाता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) अन्वय के मार्ग में मछाई-मुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और वहाँ राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता।

अन्वयवाद का आधार मुक्तवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मोक्ष प्राप्ति की पूर्ण समाप्ति है। यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए इसमें जीवन और उसके आधारभूत सब शरीर का सर्वोपरि महत्व दे। निभेयस् साधना में जीवन और शरीर का महत्व नहीं, वहाँ उनके नियमन-संयम का महत्व है। जीवन ज्ञान-मगुर और शरीर असार है, हममें स्थिरता का अंश और सार मात्र इतना ही है कि यितना यह निभेयस् का साधन बने।

इसलिए अणुवत् का घोष है—“सयमं खलु जीवनम्” सयम ही जीवन है। जीना मयम नहीं है, निभेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो संयम है, यही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद प्रत्येक का आधार नहीं बन सकता। सुख मिले, दुःख न हो, जीवन बना रहे, मौत न हो—यह प्राणीमात्र की स्वभाविक मनोवृत्ति है। मुसौपणा और प्राणैपणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुख-सुविधा में कहीं खल्ल न पड़ जाय—यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे समृद्ध का भाव आता है। यह मन के बाँध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ समृद्ध के लिए समृद्ध प्रधान बन जाता है। दूसरों के शापण, उत्पीड़न, दमन आदि सभी बुद्बुदों के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। सुख पाने और दुःख से बचने की वृत्ति को ‘मनोवैज्ञानिक सुखवाद’ कहा जाता है। नीति शास्त्र की दृष्टि से इसे समृद्धवाद कहना चाहिए। अभ्युदय में सुख की कामना छूटती नहीं, इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर सुख पाने और दूसरों को मार कर जीने की वृत्ति बुरी है, यह माना गया। निभेयस् आनन्दमय है। आनन्द परित्यक्त उदात्तीकरण है। सुख पौद्गलिक वृत्ति या पूर्ति है। इसलिए वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए सुख की कामना का पुग माना गया। शरीर धारण और जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना सुखवाद नहीं है। वह आवश्यकता की पूर्ति

के अर्कप की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निमेषस् के लिए नहीं होती। स्वप्न, समाज, राष्ट्र, अपर राष्ट्र के अमुष्म के लिए निमेषस् से मेड न खानेबाखी भी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें निमेषस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निमेषस् और अमुष्म का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यकार है। निमेषस् की व्याख्या में "वहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निमेषस् की प्राप्ति में सहायक होता है, वहाँ तक आचरण को मत्ता कहा जाता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) "जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के बश में जाता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) अमुष्म के मार्ग में अकार-गुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से सुझी हुई होती है और वहाँ राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता।

अमुष्मवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार अज्ञात है। मृत प्राणी की पूर्ण समाप्ति है। यह अज्ञात की पूर्ण मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारमूल नव शरीर का सर्वोपरि महत्व है। निमेषस् साधना में जीवन और शरीर का महत्व नहीं, वहाँ उनके नियमन-संयम का महत्व है। जीवन रूप मगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अर्थ और सार-भाव इतना ही है कि जितना वह निमेषस् का साधन बने।

इसलिये अणुव्रत का पाप है—“संयमं खलु जीवनम्” संयम ही जीवन है। जीना संयम नहीं है, निभेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो संयम है, यही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुम्नवाद् व्रत का आधार नहीं बन सकता। सुम्न मिले, दुःख न हो, जीवन बना रहे, मौत न हो—यह प्राणीमात्र की स्वामाविष्ट मनोवृत्ति है। सुम्नैषणा और प्राणैषणा से प्रेरित हो ये सुम्न-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुम्न-सुविधा में फही खल्ल न पड़ जाय—यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे सप्रह का भाव आता है। यह मन के बाँध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ सप्रह के लिए संप्रह प्रधान बन जाता है। दूसरों के शापण, टप्पीड़न, दमन आदि सभी बुभेष्टाओं के पीछे यही मनावृत्ति होती है। सुम्न पाने और दुःख से बचने की वृत्ति को ‘मनावैज्ञानिक सुम्नवाद’ कहा जाता है। नीति शास्त्र की दृष्टि से इसे संप्रहवाद कहना चाहिए। अभ्युदय में सुम्न की कामना छूटती नहीं, इसलिये सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर सुम्न पाने और दूसरों को मार कर जीने की वृत्ति बुरी है, यह माना गया। निभेयस् आनन्दमय है। आनन्द परिय का उदात्तीकरण है। सुम्न पौद्गलिक वृत्ति या पूर्ति है। इसलिये वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए सुम्न की कामना को गुरा माना गया। शरीर धारण और जीवन निर्बाह के लिए अनियाय अपेक्षाओं को पूरा करना सुम्नवाद नहीं है। यह आवश्यकता की पूर्ति

है। जीवन निर्वाह की दो प्रधान जरूरतें हैं—कपड़ा और रोटी। रोटी जैसे शरीर की सहज मांग है, जैसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है, फिर भी कपड़ा का संस्कार समाज में इतना प्रधान बन गया कि कपड़ा पहली जरूरत बन गया। रोटी के बिना कई दिन काम चल सकता है, पर कपड़े के बिना एक घण्टा भी काम नहीं चलता। रोटी की सोच में खादमी लगी जा सकता है जबकि कपड़ा पहने हुए हो। भावना का अतिरेक भी हुआ है। बम्बई की बात है—एक दिन मैंने एक माई से पूछा—इस टाई का क्या उपयोग है ? उत्तर मिला—बुझ भी नहीं। मैंने कहा—फिर इसका प्रयोग क्यों ? उत्तर मिला—एक दिन इसे बाँधे बिना ऑफिस में खड़ा गया तो अधिकारी ने कहा—टाई न बाँधना हो तो नौकरी छोड़ दो। जो कपड़ा अपने खादिकाठ में छम्भा, शीत, ताप आदि का प्राण बना, वह विकास पाते-पाते भावना का प्राण बन गया। यह अनर्थ-प्रयोग है। अर्थ-प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार यह जीवन की पहली जरूरत है, इसमें कोई दो मत नहीं। दूसरी जरूरत रोटी है, तीसरी अपेक्षा है—धर। ये अपेक्षार्थ अपेक्षामात्र रहती हैं, तब तक व्यक्ति इन्हें पूरी करता चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख-साधना, आराम और विद्या का विशेष भाव जुड़ जाता है, तब ये अपेक्षार्थ गौण बन जाती हैं और सुख-साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद ! इसकी दिशा में सहज रुझान मिट जाती है। अरुझान का ठाँवा-सा

छग जाता है। उपाध्याय विनयविद्यवती ने सुखयाद की परम्परा को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है—

“प्रयत्नपश्यन्पन्नप्राप्तिनाप्याविहत्या—
 सदात्तुवचनवेत्साहस्रकृतिव्यप्रविता ।
 परिश्रयनमैपत्यावाप्तिपिप्येन्निवापान्,
 सततपश्चित्तता स्वपत्नी क्वात्सुवीर ॥

रागी, पानी, कपड़ा, पर, आभूषण, छी, सन्तान, पिय, इन्द्रिय, पियय-स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, राष्ट्र—इस प्रकार इच्छा हम सतत-प्रवाही है। इसमें बढ़नेवाला व्यक्ति महा हिंसा और महा परिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर नियन्त्रण जा हो, बही मन है। सत्री जीवन में इच्छा नियन्त्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। प्रव के द्वारा जीवन की दिशा पवन आने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन निर्याद के लिए अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह रहता है, पाकी की कामनाएँ घुस जाती हैं। यही कारण है कि मन की भावना में सुख का प्रथम प्रधान नहीं रहता। बही मुख्य बात हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की होती है। यही मन का आधार है।

अणुघटी ममाञ्ज-व्यवस्था

जीवन की आवश्यकताएँ नहीं छूटती—यह निर्विच्छेद है। विच्छेद उनके पूर्ति-क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है। नियंत्रण की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित मानता है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएँ होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण सभी समाजों में होता है। यह समाज-एकरूपता है। नियन्त्रण का चारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सबसे एक रूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं—(१) भौतिक (२) राजनीतिक (३) सामाजिक (४) नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमशः—प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज-भय और आत्मपतन-भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी और आखिरी आन्तरिक हैं। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसीलिए दण्ड की आशंका ही, यहाँ उनकी मर्यादा का पावन और जहाँ वह न हो वहाँ मर्यादा की अज्ञानता भी हो जाती है। आरम्भिक-नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक-जागरण है। इसीलिए हममें बाहर-भीतर का द्वैध नहीं होता। प्रकाश या विमिर, परिपक्व या एकान्त में घुलाई से बचने की समझौता हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखनेवाला बाहर की किसी

भी शक्ति से नहीं करता, इसलिए सही माने में यह अमय है। अणुप्रती-समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्म-पतन का मय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है, जो आत्म पतनकारक नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति का क्रम प्रती में बाधा डालनेवाला नहीं होता। प्रती में बाधा बामना से आती है। आवश्यकता और बासना का वृथक्करण करना ही अणुप्रती-समाज-व्यवस्था का उद्देश्य है।

आवश्यकताएँ अधिक रहें वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन नहीं सकती। उसके बिना प्रत केन्द्र औपचारिक हो जाते हैं। इसलिए आवश्यकताएँ कम करना भी अणुप्रती-समाज-व्यवस्था का उद्देश्य है।

अधिक आवश्यकताएँ निवाहमूलक नहीं होतीं। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सफने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता है, तब आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। जब आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, प्रत औपचारिक बन जाते हैं। औपचारिक प्रती से यह शान्ति नहीं मिलती, जो प्रती से मिलनी चाहिए। इसलिए अणुप्रती समाज-व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान उद्देश्य है—इच्छा का नियन्त्रण। संक्षेप में—इच्छा-नियन्त्रण के द्वारा आवश्यकता का अस्वीकरण और उसके द्वारा आवश्यकता और बासना का वृथक्करण करना अणुप्रती-समाज-व्यवस्था का उद्देश्य है।

अणुप्रती समाज-व्यवस्था की तीन भूमिकाएँ

स्नाना स्वाभाविक लगता है। नही खाना स्वाभाविक नहीं लगता। खाने का समय नही खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है। खाना शरीर की जरूरत है, इसलिये प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर नही खाता, यह समझा देता है, इसलिये वह खाना छोड़ देता है—खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण शक्ति कम होती है; वह पेट भर जाता है, जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार-पक्ष है। परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है। आरोग्य-संबर्धन के लिये स्वभाव पक्ष का प्रतिरोध करना—नही खाना, भूख सहना—यह द्वि पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियाँ इन तीनों पक्षों में समा जाती हैं। कानून या विधि विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अपसर करता है। यह

स्वभाव-पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूँ कहना चाहिये—विकार और स्वभाव में विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है तब आध्यात्मिक या नैतिक कर्तव्यों की साधना अपेक्षित होती है। विकार स्वभाव और हित को परिभाषा की सहा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कामना की अति मात्रा-पूर्ति विकार है। कामना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। कामना-विजय या पासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा माना अकर्तव्य है पर आयरयक व उपयोगी गाना अकर्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित गाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूमेरे के लिये पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिये पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विषय जागरण का उत्कर्ष होता है, सभी यह स्वभाव के लिये विकार का और हित के लिये स्वभाव का त्याग करता है।

जिम धार मनुष्य की सामाजिक प्रेरणा है, वही रमणा कर्तव्य माना जाये तो अकर्तव्य जैसा कुछ बचा ही नहीं रहता। शोषण, मर्याद और मत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वतः स्फूर्त प्रवृत्ति होती है, वैसी भले कार्यों के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मादक आयरण से टंकी हुई सामाजिक प्रेरणा है,

इसलिये यह अकर्तव्य है। बेशक डंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिये यह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणा उद्भव नहीं है, इसलिये ये प्रधान कर्तव्य हैं।

अणुप्रती समाज व्यवस्था में—अकर्तव्य का वजन सामान्य कर्तव्य का नियंत्रण और प्रधान कर्तव्य का विकास—ये तीन भूमिकाएँ होंगी, जिनका स्पष्ट संकेत आन्दोलन की तीन भेदियों से परिद्विष्ट होता है।

नया मूल्यांकन—नया आकर्षण

परिस्थिति के मूल्यांकन और आकर्षण की दृष्टि बदले बिना समाज की स्थिति में मोड़ नहीं आता। इसलिये अणुवृत्ती-समाज की व्यवस्था के मूल्य और आकर्षण नये होने चाहिए। इसमें मूल्यांकन की दृष्टि त्याग और आकर्षण की दृष्टि आत्मिक पवित्रता का संरक्षण और विकास होगी। भ्रम के द्वारा मूल्यांकन करने की बात कही जाती है पर अणुवृत्त-दृष्टि के अनुसार भ्रम आवश्यकता की कोटि का है। यह जीवन की प्राथमिक या अनिवार्य आवश्यकता है, साधना नहीं। इसलिये यह समाज के उत्कर्ष की अपेक्षा घन सकता है, मान-दण्ड नहीं। त्याग आवश्यकता की पूर्ति नहीं है, यह पवित्रता का अपहरण है। इसलिये इसमें मान-दण्ड घनने की क्षमता है। भ्रम करे या न करे, कर सके या न कर सके, पर अपवित्रता का त्याग भ्रमिक और घनिक-दोनों श्रेणियों के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार कहा जा सकता है—त्याग कोई करे या न करे, कर सके या न कर सके, भ्रम तो दोनों के लिए आवश्यक

है। इस प्रकार वो स्वतन्त्र बिकल्पों से त्याग और भ्रम को स्वतन्त्र वृत्तियाँ बन जाती हैं। त्याग भ्रम नहीं है और भ्रम त्याग नहीं है। किन्तु यहाँ भ्रम है यहाँ त्याग सरलता से आ सकता है बढ़ सकता है और जहाँ त्याग है वहाँ भ्रम टिक सकता है। भोग-प्रधान जीवन में विद्यास आता है। उससे भ्रम की वृत्ति टूट जाती है। असल में भ्रम की प्रधानता में त्याग आ भी सकता है और नहीं भी। किन्तु त्याग की प्रधानता (औपचारिक नहीं किन्तु हार्दिक त्याग की प्रधानता) में भ्रम अपने आप आवेगा। इस प्रकार अणुकारी-समाज व्यवस्था में भ्रम नीचा नहीं माना जाएगा। यह जीवन निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा की दृष्टि से दखा जाएगा। प्रतों की सुरक्षा के लिये परावस्म्भन यानी विद्यास की ओर वृत्ति नहीं पनप सकेगी। अधिक पैसे का साम्य परिणाम विद्यास और प्रासंगिक परिणाम परावस्म्भन होता है। प्रत का साम्य-परिणाम पवित्रता और प्रासंगिक परिणाम स्वावस्म्भन या भ्रम है। पैसे की जगह मूर्ख्याकन का साधन प्रत बने, विद्यास का आकर्षण छूटकर पवित्रता का आकर्षण बढ़े, सभी परावस्म्भन का स्थान स्वभावस्म्भन से सकता है। इसलिये समाज और विशेषतः भाषी पीढ़ी के संस्कारों को प्रारम्भ से ही इस नए मूल्य और आकर्षण की दृष्टि दी जाए, इसका मौखिक प्रयत्न होने की अपेक्षा है।

अहिंसक समाज की कल्पना

अणुशत-आन्दोलन की कल्पना है, अहिंसक समाज बने। समाज अहिंसक बने, इसका अर्थ यह नहीं कि सर्व हिंसा-त्यागी मुनि बने। अहिंसा का अणुशत लेना सबके लिये सम्भव है, पर मुनि बनना (या अहिंसा का महाश्रुती बनना) सबके लिये सम्भव नहीं है। कल्पना यही होनी चाहिये, जो सम्भव हो। अहिंसा का अणुशत समाज के लिये असम्भव नहीं है।

अहिंसक समाज बने—इसका तात्पर्य यह है कि अहिंसा और सत्य को सर्वोपरि माध्य मानकर चले, वैसा समाज बने। अहिंसक समाज में भोग, परिग्रह और हिंसा ये नहीं होंगे उसी बात नहीं किन्तु उसमें आवश्यकता से बढ़कर इनका स्थान नहीं होगा। ये माध्य तो नहीं ही होंगे।

जो हिंसक कहलाता है, वह सदा हिंसा ही करता है, यह बात नहीं है। अहिंसक कहलाने वाला कभी भी हिंसा नहीं करता, यह भी नहीं है। निरपय-दृष्टि में हिंसक और अहिंसक की धर्या बहुत सूझ हो जाती है। व्यवहार-दृष्टि में हिंसा-

आँकने की दृष्टि उसमें नहीं होती। अणुगत इस समस्या का समाधान है। उसका विचार न नीति है और न इस पर टिका हुआ है। उसका आधार शुद्ध आध्यात्मिकता है, उसकी आराधना का ध्येय आत्म शोधन के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का परिमार्जन उससे सहज हो जाता है इसलिये नीतिवादी और आत्मवादी दोनों के लिये यह समन्वय का मार्ग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य शून्य, विराा शून्य हो गया। वह पछता चाहता है, पर विराा नहीं मिल रही है। उसमें बुद्धि कौरस है, विवेक शक्ति है पर जीवन की सही विराा सूँढ़ने में या तो वह समर्थ नहीं है या उसे सूँढ़ने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। कुछ सो ही ही। विराा-भ्रम हो रहा है। उसीके परिणामस्वरूप पूँजी का माह, आकर्षण और अधिकाधिक स्वाभिमन हो रहा है। पूँजी का वर्जन कितना और कैसे करना इस परिणाम और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। इसीलिये अनावश्यक संपद और निकृष्टतम स्थानों से धन कमाने में मनुष्य की शक्ति खप रही है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन धाँसिल बन रहा है, अनेक अनिष्ट विघ्नप सह हो रहे हैं।

पदार्थ परक विकास जीवन में शान्ति लायेगा, सुख लायेगा और जो सोच-मतिष्ठा का पक्ष है, वह भी बलवान बनेगा, एक ग्लेमी मान्यता है। इमने विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित

जगत् को आकृष्ट किया है या यों कहना चाहिये कि वह जगत् ही उस मान्यता का स्रष्टा है।

दूसरी मान्यता सयम विकास या प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उसकी ध्वनि है—आवश्यकताओं पर नियंत्रण करो, अपना सयम करो, वृत्तियों का प्रतिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो।

दोनों मिन्न विशाएँ हैं। घोरान्ध पर खड़े व्यक्ति को नियामन करना है, उसे कहीं और किम रास्ते से जाना है। पद्माधे विक्राम ने जगत् का अशान्त और विषम बना रखा है यह प्रकाश की भाँति स्पष्ट है। फिर भी इच्छा का अल्पीकरण और वस्तु का मीमांकरण अग्रा नहीं सग रहा है। विज्ञान और पढ़पन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। इसके निर्माण के दो हस्तु हैं—(१) व्यक्ति की आत्मिक कमजारी और (२) व्रत-पालन व अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र, समाज और परिवार का शांतावरण व्रत के अनुरूप नहीं होता, तब तक व्यक्ति को व्रत-पालन की महज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन निर्वाह की अनिश्चितता, प्रतिष्ठा और भाग-बिछास की तीव्र भावना से व्रत के अतिमात्र संघट्ट की वृत्ति पुष्ट होती है। निषाह की पिन्ता का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है। भाग-बिछास की तीव्र भावना का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था सत्तर्कदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग-नियन्त्रण की शक्ति

बड़े, तभी सामूहिक रूप से अपरिमह की भावना को बल मिल सकता है।

जो ब्रम करता है, वह छोटा समझा जाता है। उसमें स्वयं ही हीनता की भावना बन जाती है। बड़ा बठ है, जो क्या-क्या बनी है, बड़े मकानों में रहता है, भौतिक सुख-सुविधा से अधिक सम्पन्न है। मछाई और नीति के पथ पर चलकर व्यक्ति छोटा बहकाये, यह उसे अच्छा नहीं लगता, तब वह धन-सम्पद का माग चुनता है। बहाँ सत्य और स्याय की बात गौण बन जाती है या उड़ जाती है। बड़ा-छोटा बनने का आधार पैसा रहे, बेसी दरा में अपरिमह की भूमिका नहीं बनती। पैसे का मोहक आकषण मूल्यांकन की दृष्टि को बदल देता है। वह मधिरा से भी अधिक मादक है। पैसे में भोग के प्रतिबान की शक्ति है इसलिये उसकी ओर महमा दृष्टि खिच जाती है। बहुसंयोग और बहुभोग की पूर्ति के लिये बड़े परिमह की बात प्रधान रहे, बहाँ धन का श्रेय सफ़ल मही हो सकता। इसलिये जो ब्रती बनते हैं, वे परिमह की उड़-भोग-वृष्टि का नियमन करें, ब्रम को नीचा और परिमह को ऊँचा मानने की भावना को छोड़ें, वभी अपरिमह और अहिंसा का बिचार आगे बढ़ सकता है। अगर पैसा दुवा तो अवश्य ही प्रथ-प्रधान या अहिंसा-प्रधान समाज का निर्माण हो सकेगा और अनुग्रही माई-पद्मिन उस आवर्त समाज के आधार-स्तम्भ और सुप्रधार होंगे।

पाँचवाँ अध्याय



कदम आगे बढ़े

बड़े, तभी सामूहिक रूप से अपरिमह की मापना को बत मिल सकता है।

जो भ्रम करता है, वह छोटा ममका जाता है। उसमें स्वयं ही हीनता की मापना बन जाती है। बड़ा बड़ा है, जो ज्यादा धनी है बड़े मकानों में रहता है, भौतिक सुख-सुविधा से अधिक सम्पन्न है। मलाई और नींबू के पत्र पर बसकर व्यक्ति छोटा कहलाये, यह उसे अच्छा नहीं लगता, तब वह भ्रम-संग्रह का भाग चुनता है। वहाँ सत्य और न्याय की बात गौण बन जाती है या उड़ जाती है। बड़ा-छोटा बनने का आधार वैसा रहे, वैसी दशा में अपरिमह की भूमिका नहीं बनती। ऐसे का मोहक आकर्षण मूल्यांकन की दृष्टि को बड़स वेता है। यह मदिरा से भी अधिक मादक है। ऐसे में भोग के प्रतिदान की शक्ति है इसलिये उसकी ओर सहसा दृष्टि तिरप जाती है। बहुसयोग और बहुभोग की पूर्ति के लिए बड़े परिमह की बात प्रधान रहे, वहाँ धर्म का ध्येय सफल नहीं हो सकता। इसलिये जो धरती बनते हैं, वे परिमह की अड़-भोग-वृत्ति का निपटन करें, भ्रम को नीचा और परिमह को ऊँचा मानने की मापना को तोड़ें, तभी अपरिमह और अहिंसा का विचार आगे बढ़ सकता है। अगर ऐसा हुआ तो अवश्य ही धर्म-प्रधान या अहिंसा-प्रधान समाज का निर्माण हो सकेगा और अनुज्जी माई-बहिन बस आदर्श समाज के आधार-स्तम्भ और सूत्रधार होंगी।

पाँचवाँ अध्याय

कदम आगे बढ़े

आध्यात्मिक समतावाद

अमुत्तर साम्यमुपैति योगी—योगी अमुत्तर साम्य को पाता है। साम्य का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से चलता आ रहा है। जैनों की माया में अहिंसा और समता एक है। छाम-अछाम, सुख-दुःख जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में जो मम रह, यही अहिंसा की आराधना कर सफ़टा है। राग-द्वेष आभेगात्मक वृत्तियाँ हैं। इनसे परे रहने का सा माव है—मध्यस्थता है, यही साम्य है। गीता में 'समत्य' को योग कहा गया है।

साम्यवाद आज के दृढित-मानस का प्रिय शत्रु है। कुछ हाग साम्यवाद से घपराते भी हैं। दिही में आचार्यजी से एक ध्यक्ति ने पूछा—क्या भारतवर्ष में साम्यवाद आयेगा ? आचार्यजी ने कहा—आप बुढायेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं। उत्तर सीधा है। कार्य को समझने के लिये कारण को समझना चाहिए। साम्यवाद का कारण है—पूर्वजीवाद। दो-सौ वर्ष पहले पूर्वजीवाद इस अर्थ में लुप्त नहीं था, जिस अर्थ में आज

है। १८ वीं (ई० १७६१) शती में माप का आविष्कार हुआ। इसके साथ-साथ पूँजीवाद आया। इससे पहले यातायात के साधन अन्य वेग वाले थे। संप्रह के साधन सुलभ नहीं थे। सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। बाध्य-युग ने यन्त्र-युग का रूप लिया। वर्तमान युग यन्त्र-युग है। इस युग में यातायात के साधन वेगवान् बने और बनते जा रहे हैं। विश्व सिमट गया। यन्त्रों द्वारा काय होने लगा। कार्य करने की श्रमता मनुष्यों से हटकर मशीनों में आ गई। पूँजी का संप्रह सुलभ हो गया। व्यक्ति-व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति थी, वह कुछ ही प्रयत्नियों के पास चली गई। सहज ही वर्ग बन गये। पूँजीपति और मजदूर। पहले बड़े नगर कम थे, गाँव अधिक। मिलों ने गाँवों को खाली किया। नगरों की आवादी बढ़ गई। हजारों मजदूर एक साथ काम करने लगे। इस परिस्थिति से उन्हें मिलने, संगठित होने और वर्ग बनाने का अवसर मिला। वर्ग-सर्पण का बीज अङ्क पकड़ गया।

पूँजीवाद का परिणाम है—बेकारी और उत्पादन की कृत्रिम आवश्यकता। मनुष्य का काम यन्त्र करने लगे तब हजारों का जीवन-साधन एक व्यक्ति के पास आ गया। एक धनी और हजारों बेकार हो गये। सर्पण की जड़ मजबूत हो गई। बही आगे या साम्यवाद के रूप में फलित हुई।

पुराने पूँजीपतियों की धारणा यह थी कि यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहेगी। पूँजीपति और मजदूर इसी प्रकार

बने रहेंगे। मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार प्रस्तुत किया। वह द्वन्द्वात्मक मौलिकवाद कहलाता है। उसके अनुसार यह विश्व परिवर्तनशील है। मूलावस्था में विरोधी तत्त्व समवेत रहते हैं। जिस समय जिसकी प्रबलता होती है, उस समय वह व्यक्त हो जाता है। एक के बाद दूसरी अवस्था आती है, दूसरी के बाद तीसरी। दूसरी अवस्था पहली का विपरिणाम और तीसरी विपरिणाम का विपरिणाम होती है। यह क्रम चलता रहता है। पहले पूँजीवाद या, बेकारी बढ़ी, शोषण हुआ। शोषण से श्रम उत्पन्न हुआ—पूँजीवाद का बीजा छड़-छड़ाने लगा। प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद को जन्म मिला। आर्थिक दृष्टि से साम्यवाद का स्वल्प उत्पादन और वितरण में समता हुआ है। इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो—यही है साम्यवाद का आर्थिक दृष्टिकोण।

बुद्ध पुराने दार्शनिकों ने कहा—सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। किन्तु सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाय, यह उन्होंने नहीं बतलाया। इसलिए आज के चिन्तक उसे दार्शनिक साम्यवाद कहते हैं। मार्क्स ने सम्पत्ति के वितरण की व्यापक पद्धति बतलाई। इसलिए उमका साम्यवाद वैज्ञानिक साम्यवाद कहलाता है। उसने एक सीमा तक सम्पत्ति के वैयक्तिक-प्रमुख को राष्ट्रीय प्रमुख के रूप में बदल दिया।

अणुक्रांति का अभियान वैयक्तिकता से राष्ट्रीयता की ओर नहीं है। वह असमता की ओर है। यह आर्थिक समस्या का

समाधान नहीं है, किन्तु अर्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को छोड़ने की प्रक्रिया है। भोग करते हैं—अपरिमह का उपदेश हजारों बपों से शरू रहा है। पर स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। अर्थ सही है। वैज्ञानिक साम्यवाद के द्वारा समाज की अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन आया है, वह अपरिमह के उपदेश से नहीं आ सका है। इसका कारण दोनों का भूमिका-भेद है। साम्यवाद का उद्देश्य है—समाज के अर्थसन्त्र का परिवर्तन और अपरिमह का उद्देश्य है—व्यक्ति की आत्मा का परिशोधन या पदार्थ-समह की मूर्च्छा का सन्मूलन। इनकी प्रक्रिया भी एक नहीं है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था राज्य-शक्ति के द्वारा होती है और आत्मा का परिशोधन व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से होता है। अर्थ-व्यवस्था सामाजिक हो सकती है और आत्मा का शोधन वैयक्तिक ही होता है। संक्षेप में कहा जाय तो अपरिमह भोग-त्याग का प्रेरक है और साम्यवाद भोग की सन्तुलित व्यवस्था का प्रेरक। अपरिमह की एक सम्भी परम्परा है जिसे मान्य कर सार्वों करोड़ों व्यक्ति आर्किबन्य का मत ले चुके हैं और उसके धारा आत्म भी नूटा नहीं है। साम्यवाद ने पूज्य असमह की ओर किसी का प्रेरित किया हो, ऐसा नहीं लगता।

अर्थ-व्यवस्था के परिष्कार में साम्यवाद या उसके पार्श्वों का छुड़ी हुई दूसरी जनतन्त्र-प्रणालियाँ सफल न हुई हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनके द्वारा मानव की आधेगात्मक

वृत्तियों परिष्कृत हुई हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वृत्तियों का परिष्कार पदार्थ-संग्रह को अनिष्टकर मानने पर ही हो सकता है। अध्यात्मवाद इसी दिशा का नाम है।

समग्र का मूल मोग-वृत्ति में है। समाज की जितनी व्यवस्थाएँ हैं, वे मात्रा-भेद से मोग-वृत्ति के परिष्कार हैं। अथ-मन्त्र उसका साधन है। अध्यात्मवाद का मूल त्याग में है। समग्र-मात्र पाप है, भले ही फिर यह वैयक्तिक हो या सामाजिक। जितना परिग्रह उतना धन्य, जितना यथन उतना मोह और जितना मोह उतनी मिथ्या धारणाएँ; यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तक-बुद्धि पैदा करता है।

अथ-मन्त्र की परिक्रमा करने वाले सारे वाद भौतिक-विकास को वैज्ञानिक और आत्मिक विकास को अद्वैतानिक मानकर चल रहे हैं। परिष्कृत अर्थ-व्यवस्था ने भी सबष की दिशा बढ़ती हो, उमा नहीं छमना। विकास को मापा जाता है—पदाथ से राष्ट्र से और सेना से।

सामाजिक प्राणियों के लिए सामाजिक विकास अपेक्षित नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी सच है—अपरिग्रह से समाज का भौतिक विकास नहीं होता। यह आत्मा के विकास का पथ है। सामाजिक जीवन के लिए भौतिक पक्ष और उमकी समृद्धि के लिए परिग्रह आवश्यक माना जाता रहा है। परिग्रह इच्छा है, पदाथ नहीं। इच्छा शुद्धी है, यह परिग्रह बन जाता है। इच्छा का नियंत्रण किया जा सकता है,

पदाय का नहीं। सामाजिक प्राणियों के लिए अपरिमह का अर्थ है—इच्छा-परिमाण। जीवन-यापन के दो विकल्प हैं—महा-आरम्भ और महा-परिमह तथा अल्पारम्भ और अल्प-परिमह। आद्य की मापा में बड़ा उद्योग और अपार संग्रह तथा छोटा उद्योग और सीमित संग्रह। उद्योग के केन्द्रीकरण से अर्थतन्त्र विकृत होता है। यह व्यावहारिक दोष है। उसका आध्यात्मिक दोष है—भोगवृद्धि। भोग के लिए प्रचुर परिमह बाह्य और उसके लिए बड़ा उद्योग। यह क्रम जीवन के दोनों (भौतिक और आध्यात्मिक) पक्षों को अटिष्ठ बनाने वाला है। उद्योग के बिभेन्द्रीकरण या अल्पीकरण का आधार अल्प-भोग है। अनुसूत-आन्दोलन की आत्मा भोग-त्याग या संयम है। इसी-लिए यह आध्यात्मिक है। भारत का मानस चिरकाळ से आध्यात्मिक रहा है। भारतीय लोग जो शान्तिप्रिय हैं, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक परम्परा है। आर्थिक साम्य सुख-सुविधा के साधन प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिक साम्य शान्ति या मानसिक-सन्तुष्टन का साधन है।

आत्म-सुखा का विस्तार-क्षेत्र

श्रम नहीं दीयते, प्रती का व्यवहार दीयता है। वा कूर नहीं है, उचित मात्रा से अधिक सपह नहीं करता है, अपने पड़ोसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वयं को अधिक महसूस नहीं देता है, अपनी मुख-मुविधा व प्रतिष्ठा के लिये दूसरों की हीनता नहीं चाहता है, दूसरों के पुष्टि-दोषस्य, विवशता से अनुचित लाभ नहीं उठाता है—धोड़ में नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है, ये वृत्तियाँ ही अणुत्रयी होने का स्वयम्भू प्रमाण हैं। प्रती की साधना के बिना उनका स्वीकारमात्र इष्ट फल नहीं लाता। पहली मंडिळ में केबल वस्तु का त्याग होता है। अन्तिम मंडिळ में धामना भी छू जाती है। वस्तु-सपह के मरकार भी मिट जाते हैं। व्यक्ति मरकारों का पुनरा होता है। उनमें सबसे अधिक धने मरकार अपनी मुख-मुविधा के हाते हैं, जिनका स्वाध-वृत्ति में पूज आच्छन्न हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के संस्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी

कई भूमिकार्य हैं—परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी जगत् । इनमें क्रमशः व्यापकता है । व्यक्ति का स्व बितना विशाल बनता है, छतना ही यह स्वयं विशाल बन जाता है । यह आत्मोपम्य-बुद्धि या आत्म-तुला का विस्तार क्षेत्र है । पहले-पहल यह अपने पारिवारिक जनो को अपने समान समझने लगा । फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना । आगे आकर मानव-मानव भाई-भाई का स्वर गूँबा । अन्तिम चरण में "प्राणीमात्र समान है," यह बुद्धि में समा गया ।

समाज में आत्मोपम्य बुद्धिवाद् फैला हुआ है पर आत्मोपम्य बुद्धि से फलित होनेवाले स्वार्थ-त्याग के प्रवृत्ति की साधना नहीं है । ज्ञान का आवरण बुर हुआ है किन्तु मोह नहीं छूटा है । यथार्थ ज्ञान भी मोह के रहते हुए क्रियात्मक नहीं बनता, इसलिये एक कर्म और आगे बढ़ाना होगा । जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया, जैसे मोह को उखाड़ फेंकने की साधना करनी होगी । ऐसा क्रिये बिना अन्धाय और अप्रामाणिकता का अन्त नहीं किया जा सकता । आत्म-तुला का संस्कार मोहसे दबा रहता है, सभी व्यक्ति दूसरों का धमन, शोषण, उपीड़न करता है, उन्हें मारता है, मताता है, हानि पहुँचाता है । जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाय यह फिर किसी को न मार सकता, न मता सकता और न

सूट सकता है। जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण कई राष्ट्रों का नैतिक बल बहुत ऊँचा है। याहरी समानता का भाव भी इतना फल छा सकता है, तब भला आन्तरिक समता की वृत्ति के महाम् परिणाम के बारे में कैसे सन्देह किया जाये ? आत्मिक समानता की वृत्ति का उदय होने पर परिवार, जाति आदि के याहरी भेद और भौगोलिक आदि कृत्रिम भेद रेखाएँ ही नहीं मिटती, उनका उन्माद भी मिट जाता है। उपयोगिता पूरक भेद के रहने पर भी सन्ताप बढ़ने का अवकाश नहीं रहता।

धारणा बदले बिना समाज नहीं बदलता

पहले धारणाएँ बदलती हैं, फिर व्यवस्था। परिस्थितियों का परिवर्तन हुए बिना मनुष्यों का परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियाँ नैतिकता के अनुकूल होती हैं, मनुष्य नैतिक बनता है। वे उसके प्रतिकूल होती हैं, मनुष्य अनैतिक बनता है यह बहुतों की धारणा है। यह परिस्थितिवाद है। भौतिकता का उत्कर्ष इसी धारणा से हुआ है। अणुबल-आन्दोलन परिस्थितिवाद का प्रचार नहीं करता। वह आध्यात्मिक है। परिस्थितियों की अनुकूलता से उसका कोई विरोध नहीं है। किन्तु उनकी अनुकूलता में ही मनुष्य नैतिक रह सकता है—इस धारणा से विरोध है। मनुष्य परिस्थितियों की उपज नहीं है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। भोग-वृत्ति से वह दुर्बल बनता है। कठिनाइयों का सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है मनुष्य परिस्थिति से दम जाता है। आध्यात्मिकता का प्रवेश-द्वार है—त्याग। त्याग से आत्मा का बल बढ़ता है। आत्म-बल का मतलब है—भौतिक आक्रमण का अभाव। पदार्थ का आकर्षण मनुष्य

में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल का सहज उष्य हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है।

यह सच है—परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बनाकर उसे नहीं मुलकाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तर से मनुष्य की वृत्ति का रूपान्तर हो जाता है। वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थ-सन्ध में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं ? क्या उम व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते ? क्या राजनैतिक स्पर्धा नहीं होती ? एकतन्त्र एक परिस्थिति पैदा करता है अनतन्त्र दूसरी। पूँजीवाद एक परिस्थिति पैदा करता है, साम्यवाद दूसरी। इनमें नैतिकता के एक रूप का विकास होता है तो उसके दूसरे रूप का विनाश भी होता है। अनैतिकता का एक रूप मिटता है तो उसका दूसरा रूप उभरता भी है। यह परिस्थितिवाद की दृष्टि है। उसे मुख्य मानकर चला जाय तो वह रुकेगी नहीं। आप्यात्मिकता परिस्थिति निरपेक्ष है। मनुष्य आत्मा है। उसकी क्षमता असीम है। यह प्रतिकूल परिस्थिति में भी नैतिक रह सकता है। अशुभ-आन्दासन का ज्येष्ठ है—इस भटा का जगाना।

तिक्रता से बही बच सकता है, जो आद्य के स्रोतों पर नियन्त्रण करने के साथ-साथ व्यय पर भी नियन्त्रण रखे। व्यय पर नियन्त्रण होता है तो आहम्बर, दिखावा, फिजूलखर्चियाँ और स्पर्धाएँ अपने-आप टूट जाती हैं। इन्हें उखाड़ फेंकने का मतलब है—संप्रद की रीढ़ तोड़ना।

बढ़प्पन की मान्यता, भोग-वृत्ति और आलस्य, ये भी अर्थ गौरव के हेतु हैं। अर्थ-गौरव की भावना जहाँ है, वहाँ अनीति का स्रोत नहीं सूखता।

अधिक खाना—अधिक मात्रा में खाना, अधिक बस्तुएँ खाना, आवश्यकता पूर्ति नहीं है। यह भोग-वृत्ति का सम-मात्र है।

दूसरों को सुखम न हो, बैसे पर बनाना, बैसे वस्त्र पहनना, वैसी बस्तुएँ खाना, वैसी बस्तुओं का उपयोग करना—बढ़प्पन की मान्यता है। दूसरों से काम करवाने की वृत्ति में आलस्य और बढ़प्पन की मान्यता है। इन दोनों के बीच छिपे हुए हैं। इन सबकी पूर्ति का हेतु अधिक संप्रद है। अधिक संप्रद का हेतु अनैतिकता है। उससे बचने के लिये जीवन को अर्थ-भार से दबा देनेवाली सामाजिक मान्यता, बढ़प्पन की मान्यता, भोग-वृत्ति और परावृत्तन से किनारा लेना होगा।

अणुप्रति-आन्दोलन जीवन का समय-दर्शन है। जीवन बचाने की जो प्रक्रियाएँ हैं, उनमें असंयम की मात्रा का उत्तम मात्र हो सकता है, हिंसा और परिग्रह की कमी-बेसी हो सकती

है, संयम की ओर जाने की दुर्लभता या सुलभता हो सकती है, आसक्ति की न्यूनाधिकता हो सकती है पर इनमें स्वयम्भूत संयमशीलता या स्वरूपतः संयममयता नहीं होती है। अणुप्रत स्वयम्भूत संयम है। इसलिए यह जीवन चलायने की प्रक्रिया नहीं है, यह जीवन को संयत करने की साधना है। जीवन निवाह की दिशा बड़ी हिंसा से अल्प हिंसा, बहु परिग्रह से अल्प परिग्रह, अति आसक्ति से अल्प आसक्ति की ओर चलती है, यह संयम-प्राप्ति की सुलभता का हेतु है। जीवन-प्रक्रिया को सरल बनाये बिना संयम आता नहीं और आ जाये, यह टिकता नहीं। इसलिए अणुप्रती जीवन-निर्वाह की प्रक्रिया को भारी बनाये नहीं रख सकता।

झाना ही होगा—कृत्रिम आवश्यकताएँ मिटानी होंगी, सुख सुविधा व विद्या के एकाधिकार को मिटाना होगा, सम्प्रदा को कम करना होगा और अर्जन-पद्धति में से शोषण का भाग दूर फेंकना होगा। ऐसा किये बिना संकल्पी हिंसा से मुक्ति कहाँ ?

अणुप्रती खेती भी करते हैं, व्यवसाय और अध्यापन भी करते हैं, इनमें से किसी के साथ सम्प्रदा और दूसरों के स्वत्व हरण की वृत्ति जुड़ जाती है, वहीं संकल्पी हिंसा आ जाती है। अर्जन-पद्धति में शोषण का दोष स्वयं महों आता। वह संसृष्ट, भोग और कृत्रिम आवश्यकता-बद्धि की कारण परम्परा से आता है। अणुप्रति-आन्दोलन के ऋत अर्थात् अर्जन की पद्धति को दोषपूर्ण बनानेवाले कारणों का सम्मूहन किया चाहते हैं। उस दृष्टि से कृत्रिम आवश्यकता नियन्त्रण, भोग-नियन्त्रण और सम्प्रदा नियन्त्रण के द्वारा अर्जन-पद्धति का नियन्त्रण किया गया है।

धर्म और नैतिकता

सामाजिक जीवन संरिच्छित जीवन है। यह अनेक परिस्थितियों और विचारों के मिश्रण का फल है। सामाजिक व्यक्तियों के कुछ स्कार्पुराने होते हैं और कुछ नये बनते हैं। दोनों का योग नर सिद्ध का अवतार बन जाता है। नर और सिद्ध में योगिक एकत्व हो सकता है किन्तु नरत्व और सिद्धत्व में एकता नहीं होती।

सामाजिक व्यक्तियों का जीवन आध्यात्मिक और अन्-आध्यात्मिक—इन दोनों पक्षों से व्याप्त होता है। किन्तु यह आध्यात्मिक ही होता है या अन्-आध्यात्मिक ही अथवा आध्यात्मिकता व अन्-आध्यात्मिकता एक ही है, उसमें कोई स्वरूप-भेद नहीं है, ऐसा नहीं होता।

आज धर्म का पित्तन गहरी-शबाद हो रहा है। धर्म-शास्त्र की महत्त्व अपहारा है किन्तु यह अपेक्षा है किमति आध्यात्मिक भी है, यह विचार मिश्रण है।

आध्यात्मिकता का विचार आत्म-शुद्धि की मान्यता पर

टिका हुआ है और भ्रम के विचार की पूर्ण मान्यता है— सामाजिक अपेक्षाओं की पूर्ति।

छोग भ्रम को भीषा मानने लगे हैं, भ्रम से जी चुराने लगे हैं। फलतः समाज अभ्युदयोन्मुख नहीं रहा। इसलिए भ्रम को उच्छेदना देने की आवश्यकता समझी जा रही है। समाज के नेता चाहते हैं—भ्रम बढ़े, फलतः अभ्युदय हो। आध्यात्मिकता आत्मा का स्वभाव है, धर्म है। वह अपेक्षा नहीं है। अभ्युदय से उसका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है, वह अभ्युदय की साधना भी नहीं है, साधन भी नहीं है और अभ्युदय उसका साध्य भी नहीं है।

अभ्युदय के लिए धर्मशास्त्र का जो उपयोग है, वह धर्मशास्त्र का नहीं है और इसलिए नहीं है कि धर्मशास्त्र अभ्युदय की सीमा में घुसनेवाले दोषों का निवारक हो सकता है, किन्तु अभ्युदय का कारक नहीं होता। कुछ छोग धर्म को अभ्युदय का कारक मानते हैं। उससे तत्काल अभ्युदय होता नहीं। छोग धर्म से बिमुख बन जाते हैं।

मोक्ष का स्वरूप विवेक है। प्रवृत्ति वेदाभिव्यक्ति है। आध्यात्मिकता का अर्थ है विवेक, विवेक की साधना या साधन। इसी का नाम निवृत्ति है। वह के रहते प्रवृत्ति रक्ती नहीं। किन्तु आत्म-शुद्धि के साधक की प्रवृत्ति असतत भी नहीं रहती। यामा उमकी प्रवृत्ति है, किन्तु जीव हिंसापूर्वक शाना उमकी प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ जीने का प्रश्न गौण और अहिंसा या

आध्यात्मिकता का प्रश्न प्रधान धन जाता है, वहाँ हमें भ्रम, ओ जीने के प्रश्न को प्रधानता देता है, की भाषा में नहीं मोषना चाहिए। भ्रम प्रवृत्ति का ही एक अंग है। यह प्रयोजन-सापेक्ष है। भ्रम करते रहना चाहिए—यह उतना मूल्यवान् नहीं जितना मूल्य इसका है कि प्रयोजन की पूर्ति के लिए भ्रम करना चाहिए। निष्कर्ष की भाषा में भ्रम का मूल्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। आध्यात्मिकता निरपेक्ष है। भ्रम, भ्रम द्वारा उत्पादित वस्तु-समूह और उसके भोग की दूरी ज्यों बढ़ती है, त्यों वह अधिकाधिक विकासशील बनती है। भ्रम, वस्तु, भोग और दूर ये सब सर्वथा दूर हो जाते हैं, तब वह पूर्ण विकास पाती है।

यह विचार बहुत गहरा भी है, छम्मा भी और उलम्हन भरा भी। फिर भी मैंने इस ओर संक्षिप्त संकेत किया है। अब मैं वर्तमान-मानस के घारे में कुछ कहना चाहता हूँ। सबको सब कुछ करना चाहिए, कम-से-कम अपनी अपने छात्रों का अपने आप पूरा करना चाहिए—कुछेक पिन्तकों का मानस ऐसा है। किसी एक सीमा तक ठीक भी होगा। किन्तु यह मारी दृष्टियों से ठीक है—जसा हमें नहीं लगता। उत्पादक-भ्रम को अपठ्ट मानना यदि दोष है तो उसे सब-दृष्ट्या सपौष्ट मानना भी निर्दोष नहीं है। आध्यात्मिक साधना का हम धन भर के लिए अलग कर दें। व्यवस्था, [ब्रह्म आदि की दृष्टि से साधें, तो भी यह बुद्धिगम्य नहीं

दाता कि उत्पादक भ्रम की एकरूपता सबमें हो और सब अपनी अपनी अपेक्षाओं को अपने आप पूरा करें।

समाज ने कला, विज्ञान आदि-आदि के विकास को महत्व दिया है और इसके योग्य व्यक्तियों को उसके विकास का प्रबन्ध भी दिया है। भ्रम को नीचा मानने का जो दोष आ गया, उसके आधार पर व्यक्तियों की योग्यता के तारतम्य को एक ही तुला से नहीं तोला जा सकता। स्वावच्छम्बन, आत्म निर्भरता आदि शब्द स्वयं उलझ गये हैं। वे नये सिरे से चिन्तन चाहते हैं और हमें वैसा करना भी है। कौन हाथ पैर दिखाता है और कौन नहीं ? कौन सक्रिय है और कौन निष्क्रिय ? इन प्रश्नों को हम उत्पादक-भ्रम की भूमिका पर लड़े होकर सोचेंगे तो प्रतिष्थिति वही होगी, जो कि समाज की सामान्य अपेक्षा के लिए होनी चाहिए और यदि हम विभिन्न भूमिकाओं से इनका उत्तर पाने का प्रयत्न करेंगे तो भ्रम के एकात्मक-प्रतिष्ठान का आधार टूट जायेगा। हमारे लिए यह अधिक अच्छा है कि हम इस प्रश्न को एकांगी दृष्टिकोण से ही न देखें।

आध्यात्मिकता और भौतिक वस्तु का उत्पादन

श्री भद्रन्त आनन्द कौसल्यायन ने अणुश्रुत पाश्चिमी में आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु के उत्पादन के बारे में एक प्रश्न उपस्थित किया था। यह था—“साधक और विद्वान् को समझ लेना चाहिए कि उनकी आध्यात्मिक साधना और विद्वता प्रमाण रूप से उनके अपने लिये हैं, किन्तु किसान का अन्न व वस्त्र उसके और उनके दोनों के लिये है। क्या आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु की उत्पत्ति के प्रयत्नों में सचमुच एकदम तीन छः का सम्बन्ध है ? क्या आध्यात्मिक साधना के लिये यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि साधक को घिना हाथ-पैर हिलाये, निठल्ले बैठे ही स्थाना-रूपड़ा मिला करे ?”

साधना के लक्ष्य की दृष्टि से इसका विचार इस प्रकार किया जा सकता है—किसान का किसान ही नहीं रहना चाहिए, किन्तु उसे साधक भी होना चाहिए; यह एक मान्यता है। इसी समानान्तर मान्यता यह है कि साधक को

कोरा साधक ही नहीं रहना चाहिये, किन्तु उसे किसान भी होना चाहिए। यानी अमुक किसान है और अमुक साधक, यह भेद ही नहीं होना चाहिये। सबके सब साधक हों, सबके सब किसान। सामान्य दृष्टि से यह तर्क यथार्थ लगता है, किन्तु अधिकारी के भेद से कार्य का भेद होता है, इस दृष्टि से यह यथार्थ नहीं भी है। सामान्य चिकित्सक का कार्यक्षेत्र व्यापक होता है। वह सारे अवयवों की चिकित्सा करता है, किन्तु एक अवयव की चिकित्सा का विशेषज्ञ उसी में अपनी शक्ति केन्द्रित कर लेता है। सबको सब कुछ करना चाहिये—यह व्यापकता की बात है। सुनने में अच्छी लगती है, किन्तु उपयोगिता का भंरा इसमें कम है।

मदन्त आनन्द कौसल्यायन के प्रश्न के उत्तर भाग की ध्वनि यही है कि साधक को किसान और बुनकर भी होना चाहिये। समाज की अर्थ-व्यवस्था की प्रधान मानकर सीखने वाला कोई आदमी कह भी सकता है कि साधक को अपना श्राव्य और परिधान स्वयं उत्पन्न करना चाहिये, किन्तु आत्म-मुक्ति के दर्शन से देखनेवाला कहेगा कि साधक को पदार्थ का संग, हा सके इतना कम करना चाहिये। उसे खान-पान और परिधान के लिये नहीं, किन्तु साध्य—आत्म-मुक्ति की विवेक विधि के लिये अहिंसात्मक माध्यापूर्वक जीना चाहिये। उसे अहिंसक पद्धति से मिटने पर जाने और बैसा न हाने पर अनशन करने का संकल्प किये रहना चाहिये। उसके लिये

परार्थ-विस्तार के क्षेत्र में जाना और बाधे हिंसा करना उचित नहीं। यह साधना की विशेष श्रेणी को शिथिल बना देता है और आत्म-मुक्ति के उद्देश्य को समाज-व्यवस्था के रूप में बदल देता है।

भौतिक वस्तु की उत्पत्ति के प्रयत्न और आध्यात्मिकता में तीन-छा का सम्बन्ध है भी और नहीं भी। आध्यात्मिकता और अन् आध्यात्मिकता आत्मा की स्थिति विरोध है। वस्तु की उत्पत्ति के जिस प्रयत्न के साथ ममत्व और हिंसा का प्रयोग जुड़ता है, आत्मा की वृत्ति अन्-आध्यात्मिक हो जाती है। उसके साथ ये नहीं जुड़ते, वृत्ति आध्यात्मिक होती है। ऐसी में उपकरण का विस्तार और शक्य कोटि की हिंसा—ये दोनों दोष बढ़ते हैं। ममत्व की सीमा फिर नहीं बढ़ती—यह गहरे चिन्तन के बाद नहीं कहा जा सकता।

गृह मुक्त मापक के लिए जो सहज-उत्पन्न भिन्ना का क्रम स्थिर हुआ, वह चिन्तन के विस्तार के बाद भी शेष सभी विधियों से भिन्न, प्रशस्त और असम्यक् तथा अहिंसा के अनुसृत्य है। मापक को असम्यक् और उपकरण-ज्ञापक की मूर्धिका से समीकृत भीषे छाने में कोई श्रेय नहीं दीयता। शेष यह रहा कि मापना स्वार्थ है। यथाय में स्वार्थ और परार्थ—दोष या गुण की निरिषत कमौटी नहीं है। श्रेय की बात परमार्थ है। समाज का जीवन परस्परव्यवस्था है। वहाँ विनिमय चलता है। क्रिमान और पुनः इसके अपवाद नहीं हैं। सापक इसका

कमी है, वह सहज है। परिस्थिति की उत्तेजना न मिलने तक है। परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, दूसरा बाधावरण सामने आता है, वे सहज गुण दोप में बदल जाते हैं। व्रत साधना-सम्यक् आत्म स्थिति है। विकार का हेतु होने पर भी आत्मा विकृत न बने, परिस्थिति का कुयोग होने पर भी गुण दोप रूप में न बदले, व्रत आत्म-स्थिति का नाम व्रत है।

आज फिर से, जगन्नी या असामाजिक जीवन बिताने की तैयारी समाज के पास नहीं है। समाज से दूर भागकर श्रद्धा, मर्चाई और सौजन्य को पाने के लिए समाज तैयार नहीं है। इस स्थिति में हमारे पास व्यक्ति की मर्चाई का साधन परमात्र व्रत ही बच रहता है। व्रत का कवच पहन व्यक्ति भौतिक आकर्षण से बचे, इसके लिए प्रचार भी आवश्यक है। मैथ्यू अरनाल्ड की भाषा में—“समाज अपनी गति से आगे नहीं बढ़ सकता। उसे छोड़े से लोग जबरदस्ती आगे बढ़े करते हैं और ये छोड़े से लोग उन कतिपय व्यक्तियों से प्रेरणा पाते हैं, जो भ्रष्ट ज्ञानी हैं, जिनमें सूक्ष्म साहस और शक्ति है।”

प्रचार के पीछे अपना स्वार्थ हो तो वह बुरा भी हो सकता है। हित-सूत्री प्रचार बुरा नहीं होता। प्रकाश की धर्या भी अन्धकार के छिन्न बिम्ब नहीं है, एसा हम जैसे कहे।

अणुव्रत का प्रचार भ्रष्टा-जागरण का प्रचार है। भ्रष्टा का परिपाक ही व्रत में बदल जाता है। व्रत लेते समय उसका संकल्प लिया जाता है। व्रत का परिपाक हीर्षकाशीन साधना

से होता है। प्रत की पहली भूमिका है भद्रा का जागरण, बीच की है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण।

जैन भाषा में भद्रा या रुचि दो प्रकार की होती है— नैसर्गिक और आधिगमिक। मनोविज्ञान इसी तथ्य को नैसर्गिक और अर्जिता—इन शब्दों में बाँधता है। रुचि आधिगमिक या अर्जिता भी होती है। श्मश्रि प्रचार पर पटक्षेप नहीं किया जा सकता।

आचार्यभी सुलामी के शब्दों में—‘महज-भद्रा के लिए आन्दोलन जरूरी नहीं किन्तु भद्रा को जगाने के लिए आन्दोलन अपरय चाहिए। शब्द की दृष्टि से यह अणुत्रुओं का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह भद्रा-जागरण का आन्दोलन है। प्रत का स्थान दूसरा है, पहले भद्रा का है। हृदय भद्रा से बढ़ता है, प्रत से नहीं।’

जो अहिंसा का प्रचार करेगा, वह उसकी शृष्ठभूमि और उसके परिणाम का भी प्रचार करेगा। मनुष्य मनुष्य समान है—यह दृष्टि तो स्पष्ट है ही, किन्तु अहिंसा के प्रचारक को यह समझना होगा कि आत्मा आत्मा समान है। अहिंसा की शृष्ठभूमि है आत्मोपम्य—सब जीव समान हैं। इसे समझ बिना अहिंसा का मम समझ ही नहीं जाता। किन्तु सुनी रहने के लिए या समाज का सभ्य बने रहने के लिए ही फाइ व्यष्टि अहिंसा या मरु का प्रती बनता है तो वह बहुत दार्ढ्य यात होगी। उसे अहिंसा या मरु का प्रती बनने की अपेक्षा अहिंसा और सत्य का स्वीकार ही तो अच्छा होगा।

कमी है, वह सहज है। परिस्थिति की उत्तेजना न मिलने तक है। परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, दूसरा वातावरण सामने आता है, ये सहज गुण दोष में बदल जाते हैं। ए साधना-सुख्य आत्म स्थिति है। विकार का हेतु होने पर आत्मा विकृत न बने, परिस्थिति का कुयोग होने पर भी दोष रूप में न बदले, उस आत्म स्थिति का नाम प्र

आज फिर से, जंगली या असामाजिक जीवन वि-
 तैयारी समाज के पास नहीं है। समाज से दूर
 श्रुति, सचाई और सौजन्य को पाने के लिए समा-
 नहीं है। इस स्थिति में हमारे पास व्यक्ति की
 साधन एकमात्र शक्ति ही बच रहता है। प्रकृति का कवच
 भौतिक आकर्षण से बचे, इसके लिए प्रचार भी अ-
 मैथिल्य भरनाहक की भाषा में—“समाज अपनी
 नहीं पढ़ सकता। उसे थोड़े से लोग जबरदस्ती अ-
 और ये थोड़े से लोग उन कतिपय व्यक्तियों से हैं
 जो भेष्ट ज्ञानी हैं, जिनमें सुख, साहस और शक्ति,

प्रचार के पीछे अपना स्वार्थ हो तो यह पुरा
 है। हित-सखी प्रचार पुरा नहीं होता। प्रचार
 अन्धकार के लिए विघ्न नहीं है, ऐसा हम कैसे

अनुभव का प्रचार महा-जागरण का प्रचार
 परिपाक ही रूप में बदल जाता है। प्रकृति से
 सत्यन दिया जाता है। प्रकृति का परिपाक ही

बहु इच्छा और आशरण का नियमन है। व्यक्ति में इच्छा पैदा होती है और आशरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह आशरण, जिससे आत्मा का विकास रुके, न किया जाय और उसकी इच्छा भी मिट जाय, वैसा अभ्यास किया जाय—यही है धर्म। पराधीनता से कोई आत्मी कोई काम नहीं करता यह धर्म नहीं, यह भाग की अप्रति है। धर्म है—भाग त्याग का स्वाधीन सक्षय और अभ्यास।

अणुधर्म-आन्दोलन धर्म की पूजा का आन्दोलन नहीं है। उसमें आदि से अन्त तक धर्मों के अभ्यास की ही पर्चा है। जो लोग धर्म की आराधना न कर केवल उसकी पूजा में ही श्रेय समझने लगे हैं, उनके लिए यह आन्दोलन पुनोत्थी बन गया है।

भौतिक लाभ या अस्वाम के मापदण्ड से सत्य और अहिंसा का मापा जाता है—यह भयकर भ्रष्ट है।

असत्य से दूसरे की हानि होती है, इमलिए यह अधम है—यह गलत है।

असत्य से आत्मा में मोह बढ़ता है, इसलिये यह अधम है और मत्स्य से उमम प्रकारा आता है इसलिये यह धम है। असत्य या सत्य घाटना, यह स्पष्ट बात है। धर्म बढ़ है, जिससे असत्य घुसने का माह जा है वह मिट जाय, फिर पाह मत्स्य भी घाटना पड़। यह मापना अकेलेपन में भी मूल्यवान है और ममात्र में भी।

महात्मा मगवानदीनजी के अनुसार—“यहाँ मनुष्य में यह विश्वास पैदा हुआ कि वह समाज का सम्यक् रूप बना सुखी रह ही नहीं सकता, अपनी चन्नति कर ही नहीं सकता, अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता, उसे समाज का सम्यक् बनकर रहना ही होगा, यहाँ वह अपने आप समाज के प्रति सत्यप्रीति बन जाता है। प्रथम लेना नहीं पड़ता, बसका सत्य अपने आप प्रथम का रूप ले बैठता है।” इस विचार-धारा में प्रथम कहाँ है, यह कोरा स्वार्थ है। प्रथम की चन्नपना केवल स्वार्थ-पूर्ति ही हो तो मले ही उसे प्रती कहा जाए। हमारी नम्र धारणा में प्रथम की भूमिका हमसे ऊँची है। प्रथम आत्म-सयम से आते हैं, आत्म विकास के लिए सकल्पपूर्वक स्वीकार किये जाते हैं। इसलिए वह सामाजिक सुविधा-असुविधा से घनते बिगड़ते नहीं। हो सकता है, कहीं कहीं समाज का अनुकूल या प्रतिशूल यातावरण बनके घनने बिगड़ने में निमित्त बन जाय।

सामूहिक सुख-सुविधा की उपलब्धि के लिए जो सत्य और अहिंसा का विकास होगा, वह सीमित होगा। जिस समूह से सुख सुविधा उपलब्ध होती है, वहाँ अहिंसा और सत्य का व्यवहार होगा। वहाँ राह नहीं मिलती, वहाँ हिंसा और असत्य का विकास होगा। इस भूमिका में अहिंसा और सत्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। यह तो निरा परिस्थिति-पाद है। प्रथम व्यक्ति का निजी 'स्य' है। वह पलायन नहीं होता, स्वेच्छा से किया जाता है। प्रथम कोई बाहरी बस्तु नहीं,

वह इच्छा और आशरण का नियमन है। व्यक्ति में इच्छा पैदा होता है और आशरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह आशरण, जिससे आत्मा का विकास रुके, न किया जाय और उसकी इच्छा भी मिट जाय, वैसा अभ्यास किया जाय—यही है व्रत। पराधीनता से कोई आदमी कोई काम नहीं करता वह व्रत नहीं, यह भोग की अप्राप्ति है। व्रत है—भाग त्याग का स्थायीन सङ्कल्प और अभ्यास।

अणुव्रत-आन्दाछन व्रत की पूजा का बान्दाछन नहीं है। हममें आदि स अन्त तक व्रतों के अभ्यास की ही पर्चा है। जो छग व्रत की आराधना न कर केवल उसकी पूजा में ही भोग मममत्ने लगे हैं, उनके लिए यह आन्दाछन बुनौती बन गया है।

भौतिक लाभ या अलाभ के मापदण्ड से मत्स्य और अहिमा का मापा जाता है—यह भयकर मूल्य है।

अमत्स्य से दूमरे की हानि होती है, इमलिए यह अपम है—यह गलत है।

असत्य से आत्मा में माह बढ़ता है, इमलिये यह अपम है और मत्स्य से हममें प्रकाश आता है इमलिए यह धम है। असत्य या मत्स्य घोटना, यह खून पात है। मत्स्य यह है, जिससे असत्य बोधन का माह आ है यह मिट जाय, फिर पाह सत्य भी घाटना यह। यह साधना अपेक्षेपन में भी मून्यवान् है और समाज में भी।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पं. क्र.	अशुद्ध	शुद्ध
३	७-८	घोड़ने के लिए इन्द्रिय	घीड़ने के लिए शीघ और शीघ को घोड़ने के लिए इन्द्रिय
४	१०	बनाने वाले	बनाने वाली
४	५	अभ्यास करते	अभ्यास करते-करते
४	७	विस्तार	विचार
५	८	अपना दृष्टिकोण	अपना-अपना दृष्टिकोण
६	१२	धम	धम
२६	१३	बचत	बचत
४२	५	अहिंसा	हिंसा
४३	११	भूमि	भूमिका
४४	६	रिश्ते हो जायगी	रिश्ते बरतने ही जायगी
४५	१०	निहित है। स्वतंत्रता	निहित है। प्रशासनिक नियंत्रण से स्वतंत्रता कम रह सकती है पर उसमें मनुष्य संतुष्ट बन जाता है। स्वतंत्रता
४७	१२	अहिंसा से ही सुखी है	अहिंसा से ही हो सुखी है
५१	१३	संसाधनों के विस्तार में तो बड़ी बाधा ही नहीं है।	संसाधनों के लिए तो विस्तार में बड़ी कोई बाधा ही नहीं है।
५२	६	होती है। अहिंसा	होती है। मन-समूह के लिए हिंसा की जाती है, अक्सर बोलता जाता है। अहिंसा

भौतिक हानि-छाम सब और मूठ दोनों से हो सकते हैं। उनके आधार पर इन्हें धर्म और अधर्म मानने की असंगति नहीं होनी चाहिए। इन्हें उनके स्वतन्त्र गुण-दोष से ही आंकना चाहिए।

अर्थशास्त्र का नियम है—कपये से स्वया जाता है। नीति शास्त्र का नियम है—आचरण से आचरण जाता है। प्रचार की सीमा भी यही होनी चाहिए कि प्रती मनुष्य पैदा हों। उनसे प्रव की परम्परा आगे बढ़े। किन्तु जो लोग प्रव का नाम तक नहीं जानते जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को नहीं समझते उनकी हित-दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रव का प्रचार किया जाय, वह समाज का हित-पक्ष है—यसा हमें लगता है।



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पं०	असुद्ध	सुद्ध
२	७-८	झोड़ने के लिए इंगित	झोड़ने के लिए मोम और घोंग को झोड़ने के लिए इन्द्रिय
३	१०	बनाने वाले	बनाने वाली
४	५	अभ्यास करते	अभ्यास करते-करते
४	७	विस्तार	विचार
५	८	अपना दृष्टिकोण	अपना-अपना दृष्टिकोण
६	१२	यम	यम
२६	१३	वस्तुत्व	वस्तुत्व
४२	५	अहिंसा	हिंसा
४३	११	भूमि	भूमिका
४४	६	रिपति हो जादेवी	रिपति उत्पन्न हो जादेवी
४५	१०	निहित है। स्वतंत्रता	निहित है। प्रसाधानक नियंत्रण से स्वतंत्रता सम रह सकती है, पर उसमें मनुष्य संयम बन जाता है। स्वतंत्रता
४६	१२	अहिंसा से ही स्वधी है	अहिंसा से ही हो सकती है
५१	१३	संस्कारहीन के फलस्त्रमे में तो नहीं बाबा ही नहीं है।	संस्कारहीन के लिए तो फलस्त्रमे में नहीं कोई बाबा ही नहीं है।
५२	६	होती है। अहिंसा	होती है। मन-संयम के लिए हिंसा की जाती है, अक्सर बोलता जाता है। अहिंसा